दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2498 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 28 अंक नं० 3

अध्यात्म-पद

(राग-मल्हार)

अब मेरैं समकित सावन आयो ॥टेक॥
बीती कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ॥अब०
अनुभव दामिनी दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोलै विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिनि भायो ॥अब०
गुरुधुनि गरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमन विहसायो।
साधक भाव अंकुर उठे बहु, जित तित हरष सवायो ॥अब०
भूल धूल कहिं मूल न सूझत, समरस जल भर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो ॥अब०

चारित्र
ज्ञान
दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अगस्त : 1972] वार्षिक मूल्य 4) रुपये (327) एक अंक 35 पैसा [अषाढ़ : 2498

ज्ञानी पुरुष संपत्ति-विपत्ति में हर्ष-विषाद नहीं करते

जैसे भानु उदै अर अस्त समै रक्त रूप,
कोषवान धन आत-जात एक रूप है।
तैसें बुध संपति विपति माँहिं समरूप,
हरष विषाद दोऊ जानें भ्रम कूप है॥
जौलौं मोह करमकौ नाश नाँहिं सरवथा,
तौलौं परनामनि में रहै दौरधूप है।
ज्ञान और विराग बल रोकि सब आस्रव कों,
बन्ध कों विदारि हाल होय शिवभूप है॥

ज्ञानी के वस्तुस्वभाव का विचार

जीवन मरण लाभ हानि जस अपजस,
तन धन परिजन सब आन-आन हैं।
निज-निज परिणामरूप सब परिणमें,
अन्यथा न होय कहैं भाषौ भगवान हैं॥
काहू में तें काहु कौ संयोग वा वियोग होउ,
मेरे तो न यासें कछु विरधै न हानि हैं।
मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव अविनाशी सदा,
उपज खपज विधि उदै परवान हैं।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

अगस्त : 1972 ☆ अषाढ़ : वीर नि० सं० 2498, वर्ष 28 वाँ ☆ अंक : 3

चैतन्यतत्त्व की अनुपम शांति

अहा, तीव्र गर्मी से व्याकुल होकर कोई ठंडे जल के सरोवर में डुबकी लगाये और उसे शीतलता का अनुभव हो; उसीप्रकार इस संसार में अज्ञान और कषाय के तीव्र ताप से संतप्त अज्ञानी जीव, चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करके जहाँ शांत चैतन्य-सरोवर में डुबकी लगाता है, वहाँ उसे अनुपम शांति का अनुभव होता है। अहा, चैतन्य की जिस परम अतीन्द्रिय शांति का वेदन उसे होता है, उसका एक अंश भी संसार के राजपद या इंद्रपद के वैभव में नहीं है। ऐसे शांतरस के समुद्र में डुबकी लगाकर उसमें निमग्न हुए मुनिवर बाह्य उपसर्ग से चलायमान नहीं होते और धर्मी जीव भी चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के बीच अपने चैतन्यतत्त्व की अनुपम शांति से च्युत नहीं होते। जैसे सोना अग्नि में तपने पर भी सोना ही रहता है; उसीप्रकार संयोग और राग-द्वेष के बीच भी ज्ञानी का ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है। ऐसे ज्ञानतत्त्व की अनुभूति धर्मो को सदा वर्तती है, और वही मोक्ष का साधन है।

गुजरात के प्रवचन

[गतांक से आगे]

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

सौराष्ट्र का मंगल-विहार पूर्ण करके स्वामीजी अहमदाबाद होते हुए गुजरात में पधारे। सबसे पहले स्वामीजी के प्रवचन दहेगाम में हुए थे, जो आप पिछले अंक में पढ़ चुके हैं। प्रथम वैशाख शुक्ला छठ से द्वितीय वैशाख कृष्णा एकम तक (रखियाल से चोरीवाड तक) के प्रवचनों का रसास्वादन भी आपने गतांक में किया। बड़ा शहर हो या छोटा-सा गाँव—स्वामीजी की चैतन्यरस की धारा तो सर्वत्र समानरूप से बहती थी। इस अंक में आप रणासण और रमोस में हुए पूज्य स्वामीजी के संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रवचन पढ़ेंगे।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

समयसार ज्ञान और राग के वेदन की अत्यंत भिन्नता बतलाता है।

'समयसार' अर्थात् आनंदमय विज्ञानघन आत्मा को प्रकाशित करनेवाला अद्वितीय जगतचक्षु

पूज्य स्वामीजी द्वितीय वैशाख कृष्णा दोज को चोरीवाड से रणासण पधारे। रणासण एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ तीन शिखरोंवाला भव्य जिनमंदिर मानों भगवान के रत्नत्रयमार्ग को प्रसिद्ध कर रहा है। स्वामीजी की छत्रछाया में जहाँ-जहाँ पंचकल्याणक हुए हैं, उनमें सबसे छोटा गाँव रणासण होगा। इस छोटे से गाँव में मांगलिक सुनाते हुए पूज्य स्वमीजी ने कहा कि—अहो, यह भगवान समयसार अद्वितीय जगतचक्षु है! शुद्ध आत्मा, वह समयसार और उसे प्रदर्शित करनेवाला शास्त्र समयसार, इसप्रकार आत्मारूप और शास्त्ररूप दोनों समयसार अद्वितीय जगतचक्षु हैं। स्व-पर का भिन्न-भिन्न स्वरूप जैसा है, उसीप्रकार वह प्रकाशित करता है। आनंदमय ज्ञानस्वरूप आत्मा को वह प्रत्यक्ष करता है। आनंद से भरे हुए

अद्वितीय-अतीन्द्रिय चैतन्यचक्षु जिसके खुल गये हैं, वह आत्मा स्वयं समयसार है, अपने स्वभाव को प्रकाशित करने में तथा जगत को जानने में वह अद्वितीय चक्षु है। स्व-पर को साक्षात् जानने की शक्ति जगत के किसी अन्य पदार्थ में नहीं है। आत्मा स्वयं अपने को जाने और जगत को प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जाने—ऐसा उसका अद्वितीय स्वभाव है, राग में या इंद्रियज्ञान में ऐसा सामर्थ्य नहीं। मन से और राग से पार स्वसंवेद्य आत्मा को वह समयसार प्रत्यक्ष करता है। अहा, आत्मा का अचिंत्य वैभव इस समयसार ने दिखलाया है। 'समयसार' के पक्षी अर्थात् शुद्धात्मा के पक्षरूपी पंखवाले धर्मी जीव निरालंबी ज्ञानगगन में उड़ते हैं, अर्थात् रागादि का अवलंबन छोड़कर, आकाश जैसे महान चैतन्यगगन में वह आनंद से उड़ते हैं, आत्का का स्वसंवेदन करके अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त करते हैं। और जो समयसार के विपक्षी हैं-शुद्ध आत्मा का पक्ष छोड़कर राग का पक्ष करनेवाले हैं, वे संसार की चार गतियों में भ्रमण करते हैं। अहो, चैतन्य का पक्ष किया, उसे राग का पक्ष छूटकर मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। ऐसे अद्वितीय-जगतचक्षु शुद्ध आत्मा का लक्ष करना, उसका स्मरण करना, वह मंगल है।

समयसार की 74वीं गाथा पर स्वामीजी का प्रवचन हुआ था। भेदज्ञान होते ही जीव आस्रवों से निवृत्त हो जाता है—वह समझाया। भेदज्ञान शुद्धात्मा में उन्मुख है, वह रागादि के अभावरूप है। शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप ज्ञान और राग से भिन्न हुआ, ज्ञान उनमें कालभेद नहीं। शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो ज्ञान है, वह स्वयं आस्रवों से पृथक् है, इसलिये उसे भाव-भेद तथा काल-भेद भी नहीं है।

भेदज्ञान हो और उसमें आस्रवों का (पुण्य-पाप का) अभाव न हो, ऐसा हो नहीं सकता। पुण्य-पाप में तन्मयरूप वर्ते, उसे भेदज्ञान नहीं कहा जाता, वह तो अज्ञान है। जो भेदज्ञान है, वह तो ज्ञानमय है, उसमें रागादि कोई भाव नहीं है।

ज्ञान अभी करे और जीव को शांति बाद में हो—ऐसा नहीं होता। ज्ञान हुआ, उसी क्षण अपूर्व चैतन्यशांति साथ ही हो गई और ज्ञान आकुलता से पृथक् हो गया। आत्मा और राग दोनों का स्वाद धर्मी अत्यंत भिन्न जानता है। चैतन्य के रस का रसास्वादन किया, वह जीव कषायरस को अपने में नहीं मिलाता। कषाय (अशुभ हों या शुभ, पाप हों या पुण्य) वह चैतन्य से विरुद्ध जाति के हैं अर्थात् शांति के घातक हैं, चैतन्य के साथ उनका मेल नहीं है। ऐसी अत्यंत भिन्नता

जाननेवाले जीव की सम्यक्प्रकार से आस्रवों से निवृत्ति हो जाती है।

जैसे लाख, वह वृक्ष का स्वभाव नहीं, किंतु वृक्ष की घातक है; उसीप्रकार रागादिभाव चैतन्य का स्वभाव नहीं लेकिन उसके घातक हैं। जैसे मिर्गी का रोग क्षणभर में एकदम बढ़ जाता है और फिर मंद हो जाता है, उसमें स्थिरता नहीं होती; उसीप्रकार पुण्य-पाप के भाव, वह चैतन्य के स्थिर भाव नहीं हैं, वह तो मिर्गी के वेग जैसे हैं; कभी शुभ, कभी अशुभ, कभी तीव्र वेग कभी मंदता—इसप्रकार वे रागादिभाव अस्थिर-अध्रुव हैं। चैतन्यस्वभाव सदा निराकुल शांतरसरूप ध्रुव रहता है। आत्मा चैतन्य-चैतन्य-चैतन्य! इसप्रकार सदा चैतन्यरूप ध्रुव रहता है, चैतन्य बदलकर वह अन्यरूप नहीं होता। इसप्रकार मिर्गी के रोग समान आस्रवों से चैतन्य की भिन्नता है। किसी भी कषाय का वेग जीव के साथ स्थिर नहीं रह सकता; क्षण में बदल जाये, ऐसा उसका अध्रुवस्वभाव है। चैतन्यरूप से जीव नित्य स्थिर रहे, ऐसा उसका स्वभाव है। कोई जीव लगातार—चौबीसों घंटे तक क्रोध नहीं कर सकता, क्योंकि क्रोध उसका स्वभाव नहीं है, और लगातार चौबीसों घंटे शांति रखना चाहे तो रख सकता है, क्योंकि शांति उसका स्वभाव है। चाहे जैसा क्रोधी जीव हो, वह लगातार क्रोध में नहीं रह सकता, वह क्षणमात्र में बदल जाता है। इसीप्रकार शुभराग में नित्य स्थिर नहीं रह सकता, क्षणमात्र में बदल जाता है। इसप्रकार आस्रव जीवस्वभाव से भिन्न हैं। चैतन्यभाव जो कि आस्रवरहित है, पुण्य-पापरहित है, वही जीव है, वह स्वयं सुखरूप है, स्थिर है, और शरणरूप है।

अहा, एकबार यदि ऐसी भिन्नता जान ले तो जीव कर्मों के आस्रव के छूट जाये और अतीन्द्रिय आनंद के वेदन सहित विज्ञानघन हो जाये।

क्षण में पूजा-भक्ति-दान के शुभ परिणाम हों और फिर अशुभ हो जायें, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरे, मेरे शुभभाव चले गये! परंतु भाई! शुभभाव तेरे स्वभाव में थे कहाँ? तेरा स्वभाव तो रागरहित चेतन है, वह कहीं चला नहीं गया है, उस चेतनस्वभावरूप तू अपने को देख।

इसीप्रकार अशुभ-पापभाव हो और वह बदलकर शुभराग हो जाये, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अहो! मैंने बहुत कर लिया, लेकिन भाई! वह शुभ भी कहाँ तेरा स्वभाव है? जैसे पाप तेरा स्वभाव नहीं, उसीप्रकार पुण्य भी तेरा स्वभाव नहीं है; पुण्य-पाप दोनों से रहित

चेतनस्वभाव तेरा है, और उस स्वभाव के अनुभव द्वारा ही आस्रवों से छूटा जा सकता है। ज्ञान का वेदन हुआ, उसी क्षण विकार का वेदन छूट जाता है। ज्ञान के वेदन में विकार का वेदन हो नहीं सकता।

चैतन्य का ध्रुवस्वभाव, वह सिंधु है और उसकी चैतन्यपरिणति, वह बिंदु है। सिंधु भी तू और बिन्दु भी तू;—सिंधु और बिंदु दोनों चैतन्यभावरूप हैं; एक में भी कषाय-राग का समावेश नहीं। बिंदु भी सिंधु की जाति का है, विरुद्ध नहीं। चैतन्य-समुद्र आत्मा, उसका बिंदु—छोटे से छोटा अंश—भी चैतन्यरूप ही है। चैतन्य का अंश राग नहीं होता। इसप्रकार चैतन्य की जाति को परभावों से भिन्न अनुभव करने पर, आत्मा और आस्रव पृथक् हो जाते हैं। कर्म के बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और चैतन्य-सूर्य ज्ञानप्रकाश से जगमगा उठता है! वहाँ आत्मा को स्वयं ज्ञात हो जाता है कि इस आत्मा की परिणति आस्रवों से पृथक् हो गई और शांत चैतन्यभावरूप हुई। ऐसे शांतस्वभावरूप संपूर्ण आत्मा है, और रागादि का मुझमें अभाव है।—ऐसा सम्यक् भेदज्ञान, वह संसार से छूटने का और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है।

रणासण से रमोस

पूज्य स्वामीजी रणासण में दो दिन रहे। दूसरे दिन दोपहर का प्रवचन रणासण से दो मील दूर रमोस गाँव में हुआ था। स्वामीजी के रमोस पधारने से वहाँ के मुमुक्षु अत्यंत हर्षित हुए। स्वामीजी का उल्लासपूर्ण स्वागत किया। स्वामीजी का प्रवचन सुनने के लिये ग्राम्यजनता उमड़ पड़ी थी। प्रवचन में (समयसार गाथा 74वीं द्वारा) देह से और राग से भिन्न आत्मा का स्वरूप ग्राम्यशैली में समझाते हुए स्वामीजी ने कहा कि—जैसे श्रीफल में ऊपर की छाल, काचली और अंदर की लाल छाल तीनों से भिन्न सफेद मीठा गोला है, उसीप्रकार बाह्य शरीर, जड़-कर्म और अंतर के शुभाशुभ रागभाव—इन तीनों से भिन्न चैतन्यस्वरूप-आनंदस्वरूप आत्मा है।—ऐसे आत्मा की प्रतीति करना, वह धर्म है।

चैतन्य स्वयं स्वभाव से आनंदस्वरूप है, उसमें दुःख नहीं है; परंतु उसका अनुभव न होने से राग का ही अनुभव कर-करके अनादि से जीव दुःखी हुआ है। रागादि तो दुःख के ही कारण हैं।—ऐसा अंतर में विचार करके उनसे चैतन्यस्वभाव की भिन्नता का निर्णय करना चाहिये।

अहा, मैं तो आनंद का समुद्र हूँ। असंख्यप्रदेशी मेरे चैतन्यक्षेत्र में तो आनंद की फसल तैयार होती है। राग-कषाय की फल तैयार हो—ऐसा मेरा चैतन्यक्षेत्र नहीं है। राग में से चैतन्य की शांति नहीं आती। जैसे चाँपा अपनी कुलीन माता के उदर से ही जन्म लेता है; उसीप्रकार चैतन्य के आनंदरूपी चाँपा तो आत्मा के स्वभाव के गर्भ से जन्म लेता है, वह राग से या पुण्य से पैदा नहीं होता।—ऐसे आत्मस्वभाव को राग से और शरीर से भिन्न जानना चाहिये। यह शरीर तो पलभर में नष्ट हो जायेगा, इसमें शरीर-मन-वाणी तथा राग-द्वेष से पार आत्मा की प्रतीति के संस्कार डालना चाहिये।

[प्रवचन के पश्चात् स्वामीजी पुनः रणासण पधारे और प्रातःकाल फतेपुर की ओर प्रस्थान किया... जैनधर्म की फतह से फतेपुर नगर गूँज उठा।—फतेपुर-महोत्सव के प्रवचन और समाचार आप आत्मधर्म अंक 325-326 में पढ़ चुके हैं।]

परमार्थ-सेवा

श्री जिनेश्वर भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्व का अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यह एक महान रहस्य है कि अपने को परमात्मा होने के लिए, मोक्ष प्राप्त करने के लिए बाह्य में किसी अन्य की सेवा करना पड़े, ऐसी पराधीनता नहीं है, मुमुक्षु स्वयं अपने शुद्धस्वरूप की सेवा करके (अर्थात् उसका ज्ञान-श्रद्धान-अनुचरण करके) मोक्षदशा की प्राप्ति करता है।

पंच परमेष्ठी भगवान की सच्ची सेवा भी इसीप्रकार हो सकती है, क्योंकि पंचपरमेष्ठी वीतरागी हैं, इसलिए उनकी सेवा वीतरागभाव द्वारा ही हो सकती है; राग के सेवन से वीतराग का सेवन नहीं हो सकता; तुझे अरिहंतों की परमार्थ सेवा करना हो तो अतीन्द्रिय होकर अपने शुद्धात्मा को अनुभव में ले।

रामपुरा में जिनबिम्ब वेदी-प्रतिष्ठा-महोत्सव

पूज्य स्वामीजी फतेपुर का भव्य पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव तथा अन्य कार्यक्रम पूर्ण करके द्वितीय वैशाख शुक्ला पंचमी को प्रातःकाल फतेपुर से दो मील दूर रामपुरा गाँव में पधारे। सोनगढ़ की द्वितीय जैन बोर्डिंग के गृहपति श्री पमुभाई रामपुरा के हैं। यहाँ के नव-निर्मित जिनालय में श्री आदिनाथ भगवान आदि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा का उत्सव हुआ था। पूज्य स्वामीजी के सुहस्त से रामपुरा के मुमुक्षुभाईयों ने भगवान की वेदी-प्रतिष्ठा करवायी थी।

स्वामीजी यहाँ सिर्फ 1 घंटे रुके। स्वागत के बाद स्वामीजी ने मांगलिक सुनाते हुए कहा कि यह आत्मा कर्म और पुण्य-पाप के भावों से रहित अबद्ध शुद्ध है; ऐसे आत्मा को देखना, अनुभव करना, वह जैनशासन का सार है। पन्द्रहवीं गाथा में जैनशासन दर्शाया है। आनंद का समुद्र आत्मा है, उसमें एकाग्र होकर अनुभव का अवसर आया है। अहो, ऐसे अपने आत्मा के श्रवण एवं अनुभव का यह अवसर है। ऐसे आत्मा की बात का प्रेम से श्रवण करना, वह भी मंगल है, और वह जीव अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त करता है।

मांगलिक के बाद स्वामीजी के साथ सबने जिनमंदिर में पूजन की और पश्चात् स्वामीजी ने रामपुरा से बामणवाडा की ओर प्रस्थान किया।

बामणवाडा में जिनबिम्ब वेदी-प्रतिष्ठा-महोत्सव

स्वामीजी द्वितीय वैशाख शुक्ला पंचमी के दिन बामणवाडा पधारे। तीव्र गर्मी के कारण प्रवचन सायंकाल चार से पाँच बजे तक हुआ। अहा, चैतन्य की शीतल बात असह्य गर्मी को भी भुला देती थी... और ऐसा लगता था कि अरे! मेरा चैतन्यतत्त्व कैसा सुंदर-शांत-शीतल है कि जिसमें संसार के किसी आताप का प्रभाव हो ही नहीं सकता।

स्वामीजी ने सयमसार की 74वीं गाथा पर प्रवचन करते हुए कहा कि—आत्मा में सच्चा ज्ञान प्रगट होते ही रागरहित शांति का वेदन होता है। आनंदस्वरूप आत्मा को जाना, वहाँ

आनंद का वेदन साथ ही है, और उसमें दु:ख का अभाव है।

जैसे कोई एक वस्तु दूसरी वस्तु के द्वारा बँधी हो तो वह उसका स्वरूप नहीं हो जाता; उसीप्रकार रागादि आस्रव द्वारा आत्मा बँधा है; लेकिन उससे ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं रागस्वरूप हो नहीं गया। ज्ञानस्वभाव से देखने पर वह राग से भिन्न ही है। ऐसी भिन्नता जानने पर जो भेदज्ञान हुआ, उसी समय आत्मा राग से अत्यंत भिन्न ज्ञानरूप से अनुभव में आया, और उसके ज्ञान में आस्रवों का निरोध हो गया।

अरे, इस चौरासी के चक्कर में मुझे आत्मा की परम शांति कैसे प्राप्त हो—वह बात संत बतलाते हैं। अरे! आत्मशांति की ऐसी बात सुनने का यह अवसर मिला, तब उसे सुनने से जो इंकार करते हैं, उन्हें आत्मा कब समझ में आयेगा? और शांति कब मिलेगी? ऐसे आत्मा की प्रतीति के बिना शुभराग द्वारा तो कहीं शांति नहीं मिलेगी। यह क्षणिक गर्मी तुमसे सहन नहीं होती तो चैतन्य की शीतल शांति में आकर देखो! देखो, पाँच पांडव शत्रुंजय पर्वत पर ध्यानमग्न थे, और शरीर अग्नि में जल रहा था, तथापि अंतर में शुक्लध्यान द्वारा चैतन्य की परमशांति का अनुभव करते थे। वे पांडव अग्नि में जल नहीं रहे थे, वे तो चैतन्य की शीतलता का अनुभव करते हुए आनंद में लीन थे। चैतन्य में राग का आताप नहीं, वहाँ बाह्य-जलन कैसी? रागादि में चैतन्य नहीं, चैतन्य में रागादि नहीं—ऐसी दोनों में भिन्नता है।

अरे, जीव! तू बाह्यव्यवहार के शुभराग की रुचि करता है, उसके बदले अपने चैतन्य की रुचि कर। एकबार चैतन्य की ऐसी रुचि कर कि आत्मा राग से भिन्न हो जाये। राग का वेदन अनंत काल किया, एकबार राग से पृथक् होकर चैतन्य की परम शांति का वेदन कर। राग तो आत्मशांति का घातक है, तो उस राग के सेवन द्वारा तुझे शांति कहाँ से प्राप्त होगी? राग को पृथक् करके चैतन्य का सेवन कर तो तुझे आत्मा की सच्ची शांति का वेदन होगा।

राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप स्वद्रव्य है, उसे हे जीव! तू त्वरा से ग्रहण कर और उससे विरुद्ध रागादि के ग्रहण को त्वरा से छोड़—यह बात श्रीमद् राजचंद्रजी ने दस अध्यात्म-वाक्यों द्वारा कही है। कल्याण का मार्ग राग द्वारा नहीं सूझता, राग से भिन्न हुए ज्ञान द्वारा ही कल्याण का मार्ग दिखायी देता है।

द्वितीय वैशाख शुक्ला छठ के प्रात:काल बामणवाडा में नव-निर्मित जिनमंदिर में

भगवान श्री आदिनाथ प्रभु की प्रतिष्ठा हुई। स्वामीजी के प्रताप से प्रतिदिन मंगलकार्य हो रहे हैं। दो दिन पहले फतेपुर में भगवान की प्रतिष्ठा की थी; कल पंचमी को रामपुरा में भगवान के प्रतिष्ठा की, और आज छठ के दिन बामणवाडा में भगवान की प्रतिष्ठा की.... इसप्रकार चार दिनों में तीन स्थानों पर जिनबिम्ब विराजमान करके स्वामीजी ने द्वितीय वैशाख शुक्ला सप्तमी को उदयपुर (राजस्थान) की ओर प्रस्थान किया था। —जयजिनेन्द्र

बामणवाडा से भावनगर तक के प्रवचनों का प्रसाद

सम्यग्दृष्टि कहाँ है ?

सम्यग्दृष्टि किसी संयोग में नहीं है, सम्यगदृष्टि किसी राग में नहीं है; संयोग और राग से भिन्न, अपने शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय में ही सम्यग्दृष्टि है। धर्मी जीव अपने शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय में राग या संयोग को स्वीकार नहीं करते। राग का जो ज्ञान है, उसमें धर्मी तन्मय है, लेकिन राग में धर्मी तन्मय नहीं है। राग और ज्ञान की ऐसी भिन्नता द्वारा धर्मी जीव की पहिचान होती है।

अहा, धर्मी की अनुभूति में सम्यगदर्शन के साथ अतीन्द्रिय आनंद तो है ही, और अनंत गुण का निर्मल पर्याय का स्वाद भी उसमें समाया हुआ है; लेकिन राग के एक कण का भी उसमें समावेश नहीं है, क्योंकि राग में चेतनस्वभावपना नहीं है। चैतन्य की एक भी किरण रागरूप नहीं होती।

शरीर तो आत्मा की जाति नहीं है, वह तो जड़ है, आत्मा से भिन्न है; इसलिये वह तो

आत्मा के धर्म का साधन नहीं है। अब पाप और पुण्य के जो भाव हैं, वे भी कहीं ज्ञान की जाति के नहीं हैं, वे ज्ञान से भिन्न जाति के हैं, इसलिये वे आत्मधर्म का साधन नहीं हैं। पुण्य-पाप दोनों दु:ख के ही कारण हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह किंचित् भी दु:ख का कारण नहीं है। ज्ञान का वेदन सुख और आनंदरूप है। इसप्रकार ज्ञान और पुण्य-पाप में भिन्नता है। अत: पुण्य-पाप, वह ज्ञान का कार्य नहीं है। ऐसा भेदज्ञान, वह मोक्ष का कारण है।

पुण्य करके स्वर्ग में जाना, वह कोई विशेषता नहीं है। मनुष्यभव की अपेक्षा इस जीव ने स्वर्ग के असंख्यगुने भव किये हैं। अब, मनुष्य भव के स्वर्ग के भव असंख्यगुने कब होंगे? मनुष्य में से स्वर्ग में जाये, उससे कहीं स्वर्ग के भव असंख्यगुने नहीं होंगे; क्योंकि स्वर्ग की अपेक्षा मनुष्य में जीवों की संख्या बहुत कम है। तिर्यंच के जीवों की संख्या दोनों से अधिक है; इसलिये मनुष्य की अपेक्षा तिर्यंच में से स्वर्ग में जानेवाले जीव असंख्यगुने हैं। तिर्यंच गति में भी पुण्य करके अनंत बार जीव स्वर्ग में गया। मनुष्य में से अनंत बार स्वर्ग में गया, उसकी अपेक्षा तिर्यंच में से असंख्यगुने अनंत बार जीव स्वर्ग में गया है। इसप्रकार जीव ने अनंत बार पुण्य किये और स्वर्ग में गया; उसीप्रकार अनंत बार पाप किये और नरक में गया; परंतु इन पुण्य और पाप दोनों से पार चैतन्यवस्तु स्वयं कौन है, उसकी प्रतीति पूर्वकाल में कभी नहीं की जिससे चार गतियों के भ्रमण से छुटकारा नहीं हुआ।

यह आत्मा अतीन्द्रिय आनंद की चैतन्यशिला है—जैसे बर्फ की बड़ी शिला सर्वत्र शीतलतामय होती है, उसीप्रकार यह चैतन्य-बर्फ की शिला परम शांतरस से भरपूर है, उसमें कषाय की आकुलता का प्रवेश नहीं है, ऐसी चैतन्य की शांति काा वेदन, वह अपूर्व वस्तु है। और ऐसे शांतरस का वेदन करनेवाले ज्ञान द्वारा बंधन कटकर मुक्ति होती है।

जिससे आत्मा की शांति न मिले और भव-दु:ख का अंत न आये, उसका धर्म में कोई मूल्य नहीं है। पाप और पुण्य, यह कोई नई वस्तु नहीं है। यह तो संसारी जीव अनादि से कर रहे हैं। दोनों से भिन्न चैतन्यवस्तु क्या है? उसकी प्रतीति करना, उसका अनुभव करना, वह अपूर्व वस्तु है।

अहा, तीव्र गर्मी से व्याकुल होकर कोई ठंडे जल के सरोवर में डुबकी लगाये और उसे शीतलता का अनुभव हो; उसीप्रकार इस संसार में अज्ञान और कषाय के तीव्र ताप से संतप्त

अज्ञानी जीव, चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करके जहाँ शांत चैतन्यसरोवर में डुबकी लगाता है, वहाँ उसे अनुपम शांति का अनुभव होता है। अहा, चैतन्य की जिस परम अतीन्द्रिय शांति का वेदन उसे होता है, उसका एक अंश भी संसार के राजपद या इंद्रपद के वैभव में नहीं है। ऐसे शांतरस के समुद्र में डुबकी लगाकर उसमें निमग्न हुए मुनिवर बाह्य-उपसर्ग से चलायमान नहीं होते और धर्मी भी चाहे जैसे अनुकूल संयोगों के बीच अपने चैतन्यतत्त्व की अनुपम शांति से च्युत नहीं होते। जैसे सोना अग्नि में तपने पर भी सोना ही रहता है, उसीप्रकार संयोग और राग-द्वेष के बीच भी ज्ञानी का ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है। ऐसे ज्ञानतत्त्व की अनुभूति धर्मी को सदा वर्तती है, और वही मोक्ष का साधन है।

आस्रव (पुण्य-पाप), वह कहीं आस्रवों को नहीं जानते; आस्रवों से भिन्न ज्ञान ही आस्रवों को आस्रवरूप जानता है। आस्रव को ज्ञान का कार्य माने तो उस जीव ने ज्ञान और आस्रव को एक माना है, वह अज्ञानभाव से रागादि कार्य का कर्ता होकर आस्रव करता है। धर्मी जीव तो स्वयं को रागादि आस्रवों से बिलकुल भिन्न ऐसे ज्ञानस्वभावरूप ही अनुभव करता है, इसलिये वह ज्ञानभाव से रागादि का किंचित् कर्ता नहीं होता, इसलिये उसके ज्ञान में आस्रव का त्याग है और संवर-जिर्नरारूप ज्ञान वर्तता है, वह मोक्ष का कारण है।

ऐसे ज्ञानरूप हुए धर्मी को चैतन्य के आनंद की ऐसी मस्ती होती है कि दुनिया संतुष्ट होगी, अथवा दुनिया मेरे लिये क्या कहेगी—वह देखने को वह नहीं रुकता, लोकलाज का त्याग करके वह तो अपने चैतन्य की साधना में तल्लीन है। उसे चैतन्य के अनुभव की जो मस्ती चढ़ी, वह कभी उतरती नहीं है।

जैसे अंधकार को देखनेवाला स्वयं अंधकार नहीं है, अंधकार को देखनेवाला अंधकार से भिन्न है; उसीप्रकार रागादि परभाव अंधकार जैसे हैं, उस राग को जाननेवाला स्वयं राग नहीं, राग को जाननेवाला राग से भिन्न है। ज्ञान और राग की भिन्नता को जानना चाहिये।

आत्मा के चैतन्यस्वभाव के वेदन में सुख है, राग के वेदन में दु:ख है। इसलिये दु:खरूप ऐसे जो रागादि आस्रव हैं, उनसे ज्ञान भिन्न है, उस ज्ञान के वेदन में आस्रवों का अभाव है। इसप्रकार ज्ञान द्वारा ही सुख का अनुभव और दु:ख का अभाव होता है। अन्य किसी प्रकार सुख की प्राप्ति और दु:ख से मुक्ति नहीं होती।

राग, भले ही वह शुभ हो, परंतु दु:ख का ही कारण है, तो उसके द्वारा सुख की प्राप्ति कैसे होगी ? राग का जिसमें अभाव है, ऐसे ज्ञान द्वारा ही सुख की प्राप्ति होती है।

अरे जीव! शुभराग के साधन से पार कोई दूसरा ही तेरे आत्महित का साधन है—उसका विचार तू क्यों नहीं करता ? शुभराग तो तूने अनादिकाल से किया; क्षण में अशुभ और क्षण में शुभ—ऐसा अनंत बार शुभ-अशुभ कर-करके स्वर्ग और नरक में अनंत बार गया, तथापि तेरा हित किंचित् मात्र क्यों नहीं हुआ ?—अत: समझ कि उन शुभाशुभ से कोई भिन्न साधन है, वह ज्ञानमय है। ज्ञान की जाति शुभाशुभराग से भिन्न है। शुभराग ज्ञान की जाति नहीं है। जैसे अशुभराग ज्ञान की जाति नहीं, वैसे शुभराग भी ज्ञान की जाति नहीं, भिन्न जाति है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहचानना और राग से भिन्न ज्ञानरूप आत्मा का वेदन करना, वह हित है, वही मोक्ष का साधन है। इस साधन को भूलकर दूसरे चाहे जितने साधन (शुभराग) करे, उससे जीव का किंचित् हित नहीं होता और उसके जन्म-मरण के दु:खों का अंत नहीं आता।

करणशक्तिवाला तेरा ज्ञान ही तेरे हित का साधन है। उससे भिन्न अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। अरे, तू स्वयं ज्ञानस्वरूप और तेरा साधन राग ? तेरे ज्ञान की अनुभूति राग की प्रक्रिया से पार है, राग या विकल्प का कारक उसमें नहीं है। जैसे आकाश के बीच अधर में अमृत का कुआँ हो, उसीप्रकार तेरा निरालंबी चैतन्यगगन, वह आनंद के अमृत से भरा हुआ है। एकबार उसका रसास्वादन तो कर! ...तो राग को साधन माननेवाली तेरी बुद्धि छूट जायेगी।

अरे, राग से पार चैतन्य की अमृत जैसी मीठी बात संत सुनाते हैं। यह वीतराग की वाणी चैतन्य के परम शांत वीतरागरस को बतलानेवाली और भवरोग मिटाने की अमोघ औषधि है... लेकिन राग में मग्न हुए कायर जीवों को वह प्रतिकूल लगती है। वह है तो परम हितकर, लेकिन राग की रुचिवाले को वह वीतरागी वाणी नहीं रुचती।

भाई! तेरा भवरोग मिटाने के लिये वीतरागी औषधि है। वैद्य कहीं रोगी को मीठी औषधि देने के लिये बँधे नहीं हैं! मीठी औषधि दें या कड़वी-लेकिन रोग मिट जाये ऐसी औषधि देना, वह वैद्य का काम है। उसीप्रकार वीतराग संत राग की मिठास छुड़ाकर वीतरागी औषधि द्वारा भवरोग मिटाते हैं।

अज्ञानी उपदेशक मीठी-मीठी बात करके राग की प्रशंसा करते हैं; कोई शुभराग करे तो बहुत कर लिया ऐसा बतलाते हैं—वहाँ अज्ञानी को शुभराग की मिठास लग जाती है कि यह बात अच्छी है!—लेकिन भाई! यह राग की मिठास कहीं तुम्हारा भवरोग नहीं मिटायेगी; यह तो तुम्हारा अहित करनेवाली है और संत शुभराग का निषेध करके, रागरहित वीतरागी मोक्षमार्ग बतलाते हैं, तथा चैतन्य के अतिरिक्त दूसरों का आश्रय छुड़ाते हैं। वहाँ कायर जीवों को यह बात कठोर और कड़वी लगती है, लेकिन भाई! यह बात तुम्हारा परम हित करनेवाली है, भवरोग मिटाने के लिये यही सच्ची औषधि है; वीतराग के परम शांतरस से भरे हुए वचन ही निरपेक्ष मोक्षमार्ग को बतला सकते हैं। ऐसा मार्ग कायर अर्थात् राग की रुचिवाले जीव नहीं साध सकते; वीतराग मार्ग की साधना करना तो वीरों का काम है। 'हरि का मारग है शूरों का... कायर का नहीं काम।'

शिष्य कहता है कि मैंने सावधान होकर अर्थात् राग से पृथक् तथा ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर अपने ज्ञानस्वरूप परमेश्वर आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव किया है; मेरे गुरु ने कृपा करके मुझे ऐसी सावधानी का उपदेश दिया था। जैसा उपदेश दिया था, वैसा मेरे अनुभव में आया है।—ऐसी गुरु और शिष्य की अपूर्व सन्धि है। गुरु ने उपदेश में क्या कहा? जैसा शिष्य ने अनुभव किया, वैसा गुरु ने कहा था; शिष्य ने क्या अनुभव किया? जैसे गुरु ने उपदेश में शुद्ध आत्मा कहा था, वैसा शिष्य ने अनुभव किया। उपदेश देनेवाले गुरु कैसे होते हैं, वह भी इसमें आ गया।

देखो, यहाँ (इंदौर के) काँच के मंदिर में लिखा है—

'चक्रवर्ती की संपदा इंद्र सरीखे भोग।
कागवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग।'

अरे, चैतन्य के वैभव के सन्मुख इस बाह्य-वैभव की क्या गिनती? सम्यग्दृष्टि जीव तो उसे कौए के विष्टा समान मानते हैं—उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं मानते। तब वह सामग्री जिस भाव से मिली, ऐसे शुभराग को वह अच्छा कैसे मानें? शुभराग को हेय कहने से अज्ञानी लोग भड़क उठते हैं—लेकिन भाई! राग से पार तेरी महान चैतन्य-संपदा कैसी अद्भुत अलौकिक है, उसे एकबार तू लक्ष में तो ले। उसे लक्ष में लेने से चैतन्य की संपदा के महान आनंद के

समक्ष राग तुझे विष्टा समान—हेय लगेगा। राग को हेय कहकर संत तुझे तेरी वीतरागी चैतन्य-संपदा बतलाते हैं।

जो धर्मी हुआ, वह ऐसा जानता है कि पहले अपने स्वरूप को भूलकर मैं मोह से उन्मत्त था, स्व-पर का मुझे कोई भान नहीं था; अब गुरु-उपदेश द्वारा सावधान होकर, मोहरहित होकर मैंने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव किया है, मुझे महान ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ है, जिससे अपने परमेश्वर आत्मा को मैंने अपने में देख लिया है।

विरक्त गुरु अर्थात् राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाले ज्ञानी संत ने ऐसा शुद्ध आत्मा समझाया, और शिष्य ने विरक्त होकर, अर्थात् राग से पृथक् होकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को अनुभव में लिया; वहाँ उसे प्रतीति हुई कि अहा! ऐसा परमेश्वर मैं हूँ—वह मुझे श्रीगुरु ने बतलाया। अपने अनुभव में आया, तब प्रतीति हुई कि अहा, ऐसा आनंदमय गंभीर चैतन्यतत्त्व मेरे गुरु बारंबार मुझसे कहते थे।

ऐसा आत्मा अनुभव में लेना हो तो अंतर में कितनी उत्कंठा होना चाहिये। जैसे कुत्ते के कान में कीड़े पड़ गये हों और उसे कहीं भी चैन नहीं पड़ता, वैसे आत्मा की अभिलाषावाले जीव को आत्मा की अनुभूति के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र-परभावरूपी कीड़ों में चैन नहीं पड़ता। अपने एक चैतन्य की ही धुन लगी है। श्रीगुरु ने जहाँ शुद्ध आत्मा बतलाकर कहा कि ऐसा परमेश्वर तू स्वयं है... उसे तू अनुभव में ले—ऐसी बात सुनते ही अंतर में जैसे आघात लग गया और निरंतर उसे अनुभव की धुन लग गई, फिर दुनिया मुझे क्या मानेगी और क्या कहेगी, यह देखने को वह नहीं एकता। दुनिया की दुनिया जाने। यह तो दुनिया को एक ओर रखकर स्वयं अपना आत्महित करने की बात है। जिसे आत्मा की लगन लग जाती है, उसे दुनिया का रस छूट जाता है और चैतन्यरस का स्वाद लेने के लिये उपयोग अंतरोन्मुख होता है। अहा, संसार के अन्य सब रसों से भिन्न, अत्यंत मधुर चैतन्यरस का धर्मी जीव अपने में अनुभव करता है। पहले नयनों के आलस्य से मैंने हरि को नहीं देखा था; अब भ्रम दूर हो गया और चैतन्य-चक्षु खुले, वहाँ भगवान चैतन्य-समुद्र को मैंने अपने में देखा। अहो, मेरा चैतन्यतत्त्व राग से पार, शांति से लबालब भरा हुआ अपने अंतर में मुझे प्राप्त हुआ। जगत भी ऐसे परम शांतरस के समुद्र को देखो... उसमें निमग्न होओ।

सिद्ध के लक्ष से साधक होकर अपूर्व भाव से समयसार का प्रारंभ

समयसार की पहली गाथा में सर्व सिद्ध भगवंतों को वंदन करके प्रारंभ किया है। उसकी टीका में सर्वप्रथम मंगलसूचक 'अथ' शब्द है।

'अथ' अर्थात् अब; अभी तक जो बीता, तदनुसार नहीं, किंतु अब नया अपूर्व प्रारंभ होता है। नवीन साधकभाव प्रगट करके आत्मा में अपूर्व भाव से सिद्धत्व की स्थापना करके समयसार का प्रारंभ होता है। हम साधकभाव सहित यह समयसार सुनाते हैं और तू भी तुरन्त जैसा कहते हैं वैसा अनुभव करके, साधक होकर अपूर्वभाव से इस समयसार का श्रवण करना। दूसरा सब भूल जा... और ज्ञान में एकाग्र होकर सिद्धों की भावस्तुतिपूर्वक इस समयसार का श्रवण कर! समयसार के श्रोता का मोह नष्ट न हो, ऐसा नहीं हो सकता। अहो, मैं अब साधक हुआ हूँ, मैं ही स्वयं साध्य और मैं स्वयं साधक—इसप्रकार अंतर में पर्याय को एकाग्र करके समयसार में कहे हुए शुद्धात्मा को अनुभव में लेना। अरे, यहाँ तो अनंत सिद्धों को आँगन में बुलाना है, उसमें विकल्प का अंश नहीं चल सकता। विकल्प से भिन्न होकर, ज्ञान को अंतरोन्मुख करके शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेकर साधक हुआ, वहाँ उसकी ज्ञानदशा में अनंत-सिद्धों का स्वीकार हुआ। अनन्त काल में कभी नहीं हुआ था, ऐसा अपूर्व साधकभाव अब प्रारंभ हुआ।—ऐसे भाव एक 'अथ' शब्द में भरे हैं। समयसार में तो हीरे भरे हैं, अपने अन्तर में प्रतीति हो, तब उसका मूल्यांकन हो सकता है।

समयसार पर 17वीं बार प्रारंभ हुए प्रवचनों को श्रोतागण ऐसे अपूर्व भाव से सुनते हैं मानों पहली बार ही सुन रहे हों! स्वामीजी भी उस समय अत्यंत प्रसन्नचित्त होते हैं। अहा! राग से भिन्न हुई मेरी ज्ञानपर्याय में इतना अवकाश है कि अनंत सिद्धों को एकसाथ उसमें मैं विराजमान करता हूँ। मैं छोटा नहीं हूँ। अरे, अपनी एक पर्याय में अनंत सिद्धों को समा लूँ, ऐसा चिदानन्द मैं हूँ। मेरा चैतन्यगृह ऐसा सुंदर और विशाल है कि जिसमें सिद्ध भगवान के समान उच्च अतिथि पधारें।—ऐसे अपने स्वभाव की प्रतीतपूर्वक धर्मीजीव समयसार सुनाते हैं और अन्य श्रोतागण भी समयसार के भावों का मंथन करते-करते ऐसा साधकभाव अवश्य प्रगट करते हैं।—ऐसी संधिपूर्वक इस समयसार का कथन है। स्वसंवेदन ज्ञान की धारापूर्वक इस समयसार की रचना होती है और तू भी ऐसे ही भाव से श्रवण करना।●●

—: माता की शर्त :—

एक माता और उसके पुत्र के बीच चर्चा चल रही है।

दोनों में धर्म के संस्कार हैं। पुत्र छोटी-सी उम्र में माता से दीक्षा लेने की आज्ञा माँग रहा है।

माता का हृदय नहीं मानता। वह छोटी-सी उम्र में दीक्षा न लेने को बहुत समझाती है।

परंतु जिसका मन संसार से विरक्त हो गया है—ऐसा पुत्र, माता की समझावट का सुंदर आत्मस्पर्शी उत्तर देता है।

पुत्र का ऐसा वैराग्य और ऐसी उत्तम धर्मबुद्धि देखकर माता तो आश्चर्यचकित हो गई, हृदय में गौरव का अनुभव हुआ। अंतरंग से तो अपना पुत्र मुनि होकर आत्मसाधना करे—उसमें वह प्रसन्न थी, लेकिन पुत्र की परीक्षा के लिए एक अंतिम प्रश्न किया।

माता ने कहा—बेटा! तेरी भावना उत्तम है, तेरे जैसे धर्मिष्ठ पुत्र की माता होकर मैं धन्य हुई, तेरे वैराग्य में मैं विघ्न नहीं डालना चाहती। मैं तुझे सहर्ष दीक्षा लेने की आज्ञा देती हूँ; परंतु एक शर्त है ?

पुत्र को लगा न जाने माँ कैसी कठिन शर्त रखेगी! लेकिन दृढ़तापूर्वक कहा—माँ, शीघ्र कहो, तुम्हारी शर्त चाहे जितनी कठिन क्यों न हो, मैं उसे अवश्य पूरी करूँगा। मेरा आत्मा जागृत हुआ है, उसके लिए अब कुछ दुष्कर नहीं है, अत: हे माता! तू प्रसन्नचित्त से अपनी शर्त मुझसे कह!

पुत्र की दृढ़ता देखकर माता प्रसन्न हुई, और कहा—बेटा, सुन! तेरे जैसा महान पुत्र संसार में कदाचित् किसी माता को प्राप्त होता है, तुझे पाकर मैं धन्य हो गई हूँ। तू खुशी से मुनि दीक्षा ले। मेरी शर्त सिर्फ इतनी है कि मुनि होकर तू ऐसी आत्मसाधना करना कि जिससे तुझे दूसरी माता न करनी पड़े... और इस संसार में मैं ही तेरी अंतिम माता होऊँ। बस, यह शर्त पूरी करने के लिये तैयार हो तो तू खुशी से दीक्षा ग्रहण कर, तुझे मेरा आशीर्वाद है।

पुत्र ने अत्यंत प्रसन्नता से कहा—धन्य है माताजी! आपने उत्तम शर्त रखी है। आपकी यह शर्त मैं अवश्य पूरी करूँगा। अहा, मोक्ष का ऐसा उत्तम आशीर्वाद देनेवाली माता मुझे मिली है, अब मैं दूसरी माता नहीं करूँगा... हे माता! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि—अप्रतिहतरूप से इसी भव में केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करूँगा....

[धन्य वह पुत्र! धन्य वह माता!]

सम्यक्त्वसहित वीतरागताप्रधान दस धर्म

बारह अनुप्रेक्षाओं में अंतिम धर्मअनुप्रेक्षा है; उसमें प्रथम शुद्ध सम्यक्त्वसहित श्रावकों के धर्म का वर्णन किया, फिर मुनिधर्म के वर्णन में रत्नत्रयसंयुक्त उत्तम क्षमादि दस धर्मों का वर्णन किया है। इस धर्मों के अंत में मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य! तू पुण्य से निरपेक्षरूप इन उत्तम दस धर्मों की परम भक्ति से आराधना कर।

* जो रत्नत्रययुक्त साधु सदा क्षमादिभावरूप परिणमित हुए हैं और जिन्हें सर्वत्र मध्यस्थता है, उन साधु को धर्म कहा जाता है, अर्थात् ऐसे साधु वह स्वयं धर्म हैं।

* वह धर्म क्षमादिभावरूप दस प्रकार का है, वह सारभूत सुखरूप है। यहाँ कहे जा रहे उन दस धर्मों को परमभक्तिसहित जानना।

* देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा घोर उपसर्ग किया जाने पर भी जो क्रोध द्वारा संतप्त नहीं होते, उनके उत्तम निर्मल क्षमा होती है।

* जो उत्तम ज्ञानप्रधान हैं, उत्तम तपश्चरण करनेवाले हैं, तथा अपने आत्मा को मानरहित रखते हैं, उनके उत्तम मार्दव-रत्न होता है।

* जो मन में वक्र चिंतन नहीं करते, काया से वक्रता नहीं करते, वक्र वचन नहीं बोलते और सरलतापूर्वक अपने दोषों को नहीं छिपाते, उनके आर्जव धर्म होता है।

* तृष्णा-लोभरूपी मैल के पुंज को जो समता और संतोषरूपी जल द्वारा धो डालते हैं तथा जो भोजन में भी गृद्धिरहित हैं, उनके विमल शुचित्व (उत्तम शौचधर्म) होता है।

* जो जिनवचन के अनुसार ही बोलते हैं, स्वयं उनका पालन करने में अशक्तिमान हों, तब भी जो व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलते, वे सत्यवादी हैं।

* जो जीवरक्षा में तत्पर हैं और गमनागमनादि सर्व क्रियाओं में तृण मात्र के भी उच्छेद

की इच्छा नहीं करते, उन्हें संयमभाव है।

* इस लोक तथा परलोक के सुखों से निरपेक्ष होकर जो समभाव धारण करते हैं तथा विविध कायक्लेश करते हैं, उन्हें निर्मल तपधर्म है।

* जो मिष्ट भोजन को, राग-द्वेषजनक साधनों को तथा ममत्व के हेतुरूप स्थानों को छोड़ते हैं, उन्हें त्याग धर्म होता है।

* चेतन तथा अचेतन पदार्थों के परिग्रह को जो तीन प्रकार से सर्वथा छोड़ते हैं, तथा लोकव्यवहार से जो विरक्त हैं, उन्हें निर्ग्रंथपना अर्थात् आकिंचन धर्म होता है।

* जो स्त्रियों के संग का त्याग करते हैं, उनके रूप को नहीं निरखते तथा काम-कथा आदि से निवृत्त हैं, उनके नवधा ब्रह्मचर्य होता है।

* युद्ध में जो शूरवीर हैं, वे वास्तव में शूरवीर नहीं हैं; लेकिन तरुणियों के कटाक्षबाण द्वारा भी जो विकार को प्राप्त नहीं होते, वे ही शूरवीरों में शूरवीर हैं।

* यह दस प्रकाररूप धर्म हैं, वे ही नियम से दसलक्षणस्वरूप धर्म हैं, परंतु अन्य जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा होती है, वह धर्म नहीं है।

* लब्धिहीन ऐसे मिथ्यात्व-संयुक्त जीवों को ऐसा जिनधर्म अनादिकाल से अलब्धपूर्व है—पूर्वकाल में जिसकी कभी प्राप्ति नहीं हुई है।

* यह दस प्रकार के जो लब्धपूर्व (अप्राप्य) धर्म हैं, वे पापकर्म के नाशक हैं और पुण्य के जनक हैं; परंतु पुण्य के हेतु वह कर्तव्य नहीं। (उत्तम धर्मों के साथ होनेवाले विकल्प द्वारा उत्तम पुण्य भी हो जाता है, लेकिन धर्म का सेवन पुण्य के प्रयोजन से नहीं करना। धर्म तो वीतरागभाव ही है।)

* जो पुण्य की इच्छा करते हैं, वे तो संसार की ही इच्छा करते हैं, क्योंकि पुण्य तो सद्गति का कारण है—वह गतिरहित मोक्ष का हेतु नहीं है; निर्वाण तो पुण्य के क्षय से ही प्राप्त होता है।

* जो जीव विषय-सुख की तृष्णा से कषायसहित वर्तता हुआ पुण्य की इच्छा करता है, उसे तो विशुद्धि (मंदकषाय) भी दूर है और पुण्य का कारण तो विशुद्धि ही है।

(इसप्रकार पुण्य की अभिलाषावाले को सच्चा पुण्य भी नहीं होता, क्योंकि पुण्य की अभिलाषा, वह तो संक्लेशपरिणाम है और वह पाप का मूल है)।

* पुण्य की इच्छावाले को पुण्यबंध नहीं होता परंतु इच्छारहित पुरुष को पुण्य की संप्राप्ति होती है।—ऐसा जानकर हे यति! तुम पुण्य में भी आदर न करो। मन्दकषायरूप परिणमित होने से जीव पुण्यबंध करते हैं, इसलिये पुण्य का हेतु तो मंदकषाय है, इच्छा नहीं। (पुण्य की वांछा, वह तो तीव्र कषाय है।)

* —इसप्रकार पुण्य से निरपेक्षरूप इन उत्तम क्षमादि दस धर्मों को परम भक्तिपूर्वक जानकर मुमुक्षु जीवों को उनका सेवन करना चाहिये।

—: आत्मा.... महात्मा :—

अरे महात्मा! तू ज्ञान-दर्शन-सुख से भरपूर... अपने में क्यों नहीं देखता? और बाह्य-विषयों में दृष्टि डालकर क्यों क्लेश भोगता है? बाह्य-विषयों में जहाँ तू सुख मानता है, वहाँ वास्तव में सुख नहीं लेकिन दुःख है, क्लेश है। अपने स्वभाव में दृष्टि करे तो वहाँ विषयों के क्लेशरहित महा अतीन्द्रिय सुख भरा हुआ है।

सुख प्राप्त करने के लिये हे जीव! तू सिद्धपद की आराधना कर। सिद्धपद की आराधना आत्मा में होती है। आत्मा स्वयं ज्ञान-दर्शन-सुखस्वभावी महान पदार्थ है, जिसमें क्लेश नहीं। अहा, निरालंबी आत्मदशा! सिद्ध-भगवंत पूर्ण निरालंबी हुए हैं; उसे साधनेवाले संतों की दशा भी अंतर में अत्यंत निरालंबी होती है।—राग के कण का भी जिसमें अवलंबन नहीं, आत्मा के स्वभाव का ही आलंबन है।

तुझे परमेश्वर को देखना हो और परमेश्वर होना हो तो परमेश्वर की खोज अपने आत्मा में कर। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सुखरूप परमेश्वरता तुझमें है। आत्मा के स्वभाव-सुख का एक अंश भी जहाँ वेदन में आया, वहाँ संपूर्ण जगत के प्रति विरक्ति हो गई और आत्मा स्वयं महात्मा हुआ।

— वाह रे आत्मा! तू तो महात्मा है।

चैतन्य-ज्ञान की चमक

[स्वामीजी के प्रवचन तथा तत्त्वचर्चा में से]

विकल्प की हीनता... ज्ञान की महानता

विकल्प द्वारा चैतन्य के गुणों का वेदन नहीं होता, वह विकल्प स्वयं अपने को या किसी गुण को नहीं जानता। अब उस विकल्प से भिन्न ऐसा जो सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है, उस ज्ञान की एक छोटी-सी पर्याय में भी ऐसी अचिंत्य शक्ति (सामर्थ्य) है कि स्वयं अपनी निर्मलता को तथा दूसरे अनंत गुणों की निर्मल पर्याय को उनके साथ एकत्व करके जान ले। कहाँ विकल्प और कहाँ ज्ञान का सामर्थ्य! ऐसे ज्ञानसामर्थ्यवाले आत्मा का स्वीकार विकल्प द्वारा नहीं हो सकता; विकल्प से भिन्न ज्ञान द्वारा ही उसका स्वीकार होता है। ऐसे ज्ञान की स्वीकृतिपूर्वक जो वचन होते हैं, वे ही स्व-पर के हित का कारण हैं।

विकल्प की शक्ति अत्यंत हीन है, उसमें जानने की या आनंद प्रदान करने की शक्ति नहीं है। ज्ञान की एक छोटी-सी पर्याय में (सम्यक् मति-श्रुत में) भी ऐसा सामर्थ्य है कि आत्मा के अनंत गुणों में व्यापक होकर उसे जानती है और आनंद का वेदन करती है। ऐसी तो जिसकी एक ज्ञान-पर्याय की शक्ति है—ऐसे अनंत गुणों का पिंड परम सत् आत्मा, उसकी अचिंत्य महिमा का क्या कहना! ऐसे आत्मा की सन्मुखतावाली पर्याय विकल्प-युक्त होती ही नहीं; वह निर्विकल्प ही होती है। अहो, जो पर्याय स्वसन्मुख आती है, उस पर्याय की शक्ति अनंत अचिंत्य होती है—क्योंकि अनंतानंत गुणों का उसने स्वीकार किया है। ऐसी शक्ति विकल्प में कभी होती ही नहीं। सत्स्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसका स्वीकार किया, वहाँ पर्याय भी सत् हो गई और उस सत् में विकल्प असत् हो गया। अनंत गुण की निर्मल पर्याय का उसमें समावेश हो गया, परंतु विकल्प उसमें नहीं आया। ज्ञान में विकल्प का समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि जाति ही भिन्न है। विकल्प कभी अनंतगुण के सत् का स्वीकार नहीं कर सकता। ज्ञान ही उसका स्वीकार कर सकता है।—ऐसा अचिंत्य अपार आत्म-वैभव का सामर्थ्य है।

स्व की ओर सन्मुख हुई ज्ञानपर्याय में वीतरागता प्रसिद्ध होती है। राग को उसमें स्थान नहीं रहा। दोज प्रगट हुई, वह चंद्र का टुकड़ा है, वह कहीं पत्थर नहीं है। भेदज्ञान हुआ, वह तो ज्ञानस्वभाव की दशा है, वह कहीं विकल्प का टुकड़ा नहीं है। स्वभाव में से ज्ञान-दोज उदित हुई, वह अल्पकाल में केवलज्ञान को अवश्य साधेगी। साधक को ऐसी ज्ञानधारा प्रगट हुई, वह अपूर्व है, आनंददायक है, विकल्प की धारा बिल्कुल भिन्न है।

श्रवण का फल वेदन; 'जैसा वेदन वैसा श्रवण'

अनंत जीव ऐसे हैं जो अभी तक एकेन्द्रिय में से निकलकर पंचेन्द्रिय हुए ही नहीं, अर्थात् जिन्हें अभी तक कान मिले ही नहीं; तथापि कहते हैं कि सर्व जीवों ने राग की कथा अनंत बार सुनी है। शब्द भले ही न सुने हों, तथापि उन जीवों ने भी राग की कथा सुनी है—ऐसा कहा; क्योंकि राग में एकत्वरूप परिणमन कर रहे हैं, जिससे उन जीवों ने राग की कथा ही निरंतर सुनी है। उसके प्रतिपक्ष में शुद्धात्मा की कथा की बात लें तो, जिसने शुद्धात्मा में एकत्वरूप परिणमन किया है, उसी ने वास्तव में शुद्धात्मा की कथा सुनी है। वेदनरहित श्रवण को श्रवण नहीं कहते। श्रवण का जो वाच्य है, उसका जो वेदन करता है, वही वास्तव में भावश्रवण है। इसलिये कहते हैं कि जिसने एकबार भी शुद्धात्मा की कथा का श्रवण (अर्थात् भावश्रवण) किया है, वह अवश्य अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करता है।

इस श्रवण की भाँति स्वामीजी एक दूसरा न्याय भी कहते हैं—सामान्यरूप से प्रत्येक जीव संसार की चारों गतियों में अनंतबार उत्पन्न हुआ—ऐसा कहा जाता है; लेकिन गणित के न्याय से देखने पर समस्त जीव चारों गति में, अनंतबार तो क्या परंतु एक बार भी उत्पन्न नहीं हो सकते। पहले स्वामीजी ने देवगति का उदाहरण देकर यह बात समझायी थी; अब चतुरिन्द्रिय के भाव का उदाहरण देकर यह बात समझायी है। दोनों में न्याय एक-सा है। अतः यहाँ देवगति का उदाहरण लेते हैं—

* देवगति की आयु दस हजार वर्ष (कम से कम) है।

* देवगति में जीवों की संख्या एक साथ असंख्यात होती है, अनंत जीव उसमें नहीं होते।

* जीवों की संख्या अनंतानंत है, इतनी अनंत है कि भूतकाल के समयों की अपेक्षा अनंतगुनी है।

अब, प्रत्येक दस हजार वर्ष में असंख्यात जीव देवगति में उत्पन्न होते हैं; पश्चात् दूसरे असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं; इसप्रकार प्रत्येक दस हजार वर्ष में असंख्यात जीवों के क्रम से गिना जाये तो भी समस्त भूतकाल में जीवों की संख्या का अनंतवाँ भाग ही देव-लोक में उत्पन्न हो सकता है और उसकी अपेक्षा अनंतगुने जीव ऐसे रहते हैं कि जिन्होंने एकेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी गति में जन्म लिया ही नहीं है।

— ऐसा होने पर भी, प्रत्येक जीव चारों-गति में अनंत बार उत्पन्न हो चुका है—ऐसा क्यों कहा जाता है? उसका स्पष्टीकरण भी उपरोक्त 'भाव-श्रवण' जैसा ही है। अर्थात् एकेन्द्रिय के अनंत जीव भले देवगति में कभी उत्पन्न न हुए हों परंतु उनके मिथ्यात्वादि विपरीत भावों में चारों गति के अनंत भव करने का सामर्थ्य विद्यमान है। वे चारों गति के अनंत भव के कारण का सेवन कर ही रहे हैं, इसलिये उनके वैसा कार्य भी हो रहा है—ऐसा कह दिया है।

धर्मी जीव का चैतन्यस्वाद

धर्मी जीव चैतन्यस्वाद के वेदन की शक्ति से रागादि समस्त परभावों को भिन्न जानता है। अनादिकाल से राग में जो कभी नहीं आया था, ऐसा नवीन वेदन धर्मी को चैतन्यस्वाद में आया है। परम अतीन्द्रिय अमृत का अत्यंत मधुर स्वाद आया, उसमें अनंत गुणों के रस का समावेश है। ऐसे वेदनपूर्वक पर्याय में जो चैतन्यधारा प्रगट हुई, उसमें रागादि दूसरे भावों के स्वाद का अभाव है।—ऐसा वेदन भेदज्ञान में धर्मी जीव को होता है। राग और ज्ञान का स्वाद अत्यंत स्पष्ट भिन्न जानने में आता है। रागरहित यह चैतन्यस्वाद अत्यंत मधुर और जगत के अन्य सब रसों से भिन्न जाति का है।

आनंदपर्याययुक्त द्रव्य में व्याप्त जो आत्मा, सो मैं हूँ—ऐसा धर्मी अनुभव करता है। समस्त विकल्प उस अनुभव से बाहर भिन्न रह जाते हैं। उन विकल्पों द्वारा आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। मैं अपने चेतनस्वाद के अनुभव में राग को एकमेक नहीं करता... मैं अपने आत्मा को सर्वतः स्व-रस से भरपूर संचेतता हूँ.... पर्याय भी वैसी होकर परिणमन कर रही है। ऐसे मेरे

द्रव्य में या पर्याय में कहीं भी मोह नहीं है; मोह किंचित्मात्र भी मेरा नहीं, मैं तो द्रव्य या पर्याय में सर्वत्र एक चैतन्यरस से ही भरपूर हूँ। शुद्ध चैतन्यप्रकाश का निधान मैं—उसमें मोह कैसा ?

मैंने अपने आत्मा को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष किया है। इंद्रियातीत ज्ञान में प्रत्यक्ष स्व-संवेदन हुआ, तब खबर हुई कि मैं ऐसा ज्ञानस्वरूप हूँ। अनंत सिद्धों को और उन प्रत्येक के अनंत गुणों को एक साथ जो प्रत्यक्ष जान लेता है, ऐसा केवलज्ञान, उस केवलज्ञान में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं, उतने ही ज्ञानशक्ति के अविभाग-प्रतिच्छेद हैं। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को स्वीकार करनेवाले श्रद्धा-ज्ञान निर्विकल्प ही होते हैं, उनमें विकल्प रह नहीं सकते। चैतन्यस्वभाव को स्वीकार करनेवाले श्रद्धा-ज्ञान रागादि विकल्पों से भिन्न ही रहते हैं और अंतर के आनंदादि अनंत गुणों की निर्मल परिणति के साथ एकरसरूप परिणमित होते हैं। अनंत गुणों के स्वाद से भरपूर चैतन्यरस धर्मी को अनुभव में आता है।

राग से भिन्न, रोग से भिन्न

अतीन्द्रिय आनंदस्वभाव से परिपूर्ण भगवान आत्मा, राग और रोग—दोनों से पार है। शरीर पाँच करोड़ रोगों का घर है, आत्मा अनंत गुण का धाम है। ऐसे आत्मा को स्वभाव चतुष्टय से लक्ष में लेने पर राग या रोग नहीं रहता। ज्ञान-आनंद की सत्ता में रोग या राग की सत्ता नहीं है, अर्थात् रोग या राग का वेदन ज्ञान को नहीं; ज्ञानी की ज्ञानचेतना राग और रोग से भिन्न रहती हुई ज्ञान-आनंद का ही वेदन करती है।

सत् के साधक की दृढ़ता

सर्वज्ञ परमात्मा और वीतरागी मुनि भगवंतों द्वारा कहा हुआ सत् अब प्रसिद्ध हो रहा है। अहा, सत् का लक्ष करनेवाले जीव महान भाग्यशाली हैं। सत् का लक्ष करके उसका पक्ष करनेवाले जीव प्राण जायें तो भी सत् के पक्ष को नहीं छोड़ते। भले प्राण जायें तो जायें, मैं सत्स्वरूप के लक्ष का पक्ष कभी नहीं छोडूँगा... सत् के साधक को जगत की प्रतिकूलता डिगा नहीं सकती।

शांतिदायिनी संतवाणी

❀ उद्वेग से भरे हुए इस संसार में अनेक प्रकार के दु:ख-प्रसंगों पर ज्ञानी संतों की वाणी कितनी शांति प्रदान करती है, उसका अनुभव प्रत्येक जिज्ञासु जीव को होता है। आत्महितप्रेरक संतवाणी में सचमुच शांति का स्रोत प्रवाहित होता है; क्योंकि अंतर में भरे हुए शांतिसमुद्र का वेदन करके वह वाणी निकलती है।

❀ संत कहते हैं कि संसार में कितनी भी दु:खद घटना हो, तथापि जीव को शांति रखना, वह कर्तव्य है, क्योंकि जीव स्वयं शांति का समुद्र है। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप विचारकर उनकी भक्ति में, उनकी महिमा में बारंबार उपयोग की लगाना चाहिये। संसार में दु:खद प्रसंग आये तो शीघ्र उपयोग को देव-गुरु-शास्त्र की ओर मोड़ देना चाहिये। दु:ख में आर्त्तध्यान और झूरना करते रहने से जो परिणाम उलटे बिगड़ते हैं और अशुभ कर्म तथा अशुभ गति का बंध होता है। अत: ऐसे विचार का स्मरण न करके आत्महित का विचार करना और शक्तिपूर्वक आत्मा को उसमें जोड़ना चाहिये। आत्मा के अद्भुत गंभीर महिमावंत स्वरूप को लक्ष में लेने से क्लेश छूट जाता है और शांति की शीतलता आने लगती है।

❀ सीताजी, अंजना आदि धर्मात्माओं को ऐसे प्रसंग आये, तथापि प्रतिकूलता में धैर्य रखकर धर्म में अडिग रहीं और देव-गुरु-धर्म का शरण लिया। पूर्व भव में स्वयं पापकर्म का बंध किया, उसके उदय से बाह्य में प्रतिकूलता आयी, लेकिन अब ऐसे अच्छे भाव रखना कि फिर ऐसे संयोग-वियोग न हों। स्वभाव की ऐसी भावना भाना कि फिर से ऐसे संयोग ही न मिलें। धर्मात्मा का संग करना, उनकी कथा पढ़ना, उनके सम्यक्त्वादि का स्वरूप विचारना, जैनधर्म की महिमा करना, भगवान के दर्शन-पूजन करना—इसप्रकार सब ओर से आत्महित हो वह करना। धर्म में चित्त स्थिर करके समाधान रखना चाहिये—यही सर्व प्रसंगों में श्रेष्ठ उपाय है।

❀ जिसने शरीर धारण किया है, उसे वह छोड़ना तो है ही, फिर कोई छोटी उम्र में छोड़े या

कोई बड़ी उम्र में छोड़े। आत्मा तो अविनाशी है। चौथे काल में तो कोई वैराग्यपूर्ण घटना होने पर कितने ही जीव मोक्षसाधना के हेतु दीक्षा ग्रहण करके वन में चले जाते थे। अत: हे मुमुक्षु जीव! अविलंब अंतर में एकाग्र होकर देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कर लेना योग्य है।

❀ आत्मा की वीरता, आत्मा की सच्ची बहादुरी तो इसमें है कि अपने आत्मा का परभावों से भिन्न अनुभव करें। अंतर की चैतन्य-चेतना को बाह्य भावों का स्पर्श न होने देना, यही ज्ञायक की वीरता है। ज्ञायकतत्त्व के आनंद के समक्ष जगत का कोई भी दु:ख आ नहीं सकता। अहो, इस अद्भुत आश्चर्यकारी चैतन्य-आनंद की क्या बात!

❀ ऐसे अद्भुत आनंद को प्राप्त करने के लिये जिनेन्द्र भगवान की और उनके द्वारा बतलाये गये आत्मा की अत्यंत महिमा लाना चाहिये। मिथ्या देव-गुरु को मानने से तो जीव के भाव बिगड़ते हैं। सच्चे देव-गुरु-धर्मात्मा की दृढ़ शरण लेकर, उनके द्वारा प्ररूपित मार्ग द्वारा आत्मानंद में लीनता का अभ्यास करना चाहिये। जीव स्वयं आनंदरूप है, उसमें से आनंद लेना चाहिये। आत्मा में आनंद है, अत: आत्मा में रमणता करना चाहिये। संसार में तो कहीं अच्छा लगे, ऐसा नहीं है। कहीं भी चित्त नहीं लगता हो तो जिनमंदिर में जाकर बैठना और भगवान के गुणों का विचार करना कि अहो! ऐसी वीतरागमुद्रा ही शांतिदायक है! हमेशा साधर्मी का संग करना चाहिये।

❀ मुमुक्षु जीव के परिणाम उज्ज्वल होते हैं, प्रत्येक प्रसंग में वह वैराग्य की ओर झुकता है। मुमुक्षु को जातिस्मरणज्ञान आदि भी वैराग्य का कारण होते हैं, राग का कारण नहीं होते। पूर्व के भव और पूर्व के भावों का स्मरण होने पर ऐसा लगता है कि अहा, ऐसे भव और ऐसे भाव मैं कर आया! अब तो इस संसार से विरक्ति करना ही योग्य है। इसप्रकार वह आत्मा के साथ संधि करके वैराग्य बढ़ाता है।

❀ देखो, सीताजी अग्नि-परीक्षा के पश्चात् वैराग्य उत्पन्न होने पर संसार से विरक्त होकर अर्जिका हुईं। रामचंदजी जैसे महान धर्मात्मा और मोक्षगामी पुरुष को भी लक्ष्मणजी के वियोग का कैसा प्रसंग आया! छह महीने तक लक्ष्मणजी के मृत शरीर को लेकर फिरते रहे। उस समय भी अंतर में श्रद्धा-ज्ञान में देह से भिन्न आतमराम देखते थे। आत्मतत्त्व का

वेदन एक क्षण भी नहीं दूटा और संयोग में एक क्षण भी तन्मय नहीं हुए। चाहे जैसे प्रसंग में ज्ञानी की आत्म-परिणति संसार से विरक्त ही रहती है।

❀ जिज्ञासु जीव को सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति महान आदर, भक्ति और अर्पणता होती है। आत्मा गुण का पिण्ड है, इसलिये उसे गुण ही रुचते हैं, और गुणी-जनों के प्रति अत्यंत आदरभाव आता है। लोग भी अवगुण की निंदा और गुण की प्रशंसा करते हैं। वीतराग के गुणों का आदर करके मुमुक्षु स्वयं अपने में वैसे गुण प्रगट करना चाहता है।

— इसप्रकार संतों के विविध वचनों से आत्महित की प्रेरणा लेकर आत्मा के भाव अच्छे रखना चाहिये। अच्छे भावों का फल अच्छा ही होता है। सचमुच ज्ञानी संतों की वाणी मुमुक्षु जीवों को अपूर्व आत्मशांति देनेवाली है।

❀❀❀❀

प्यासों के लिये प्याऊ

संसार में जिन्हें कुछ भी प्रिय नहीं, चैतन्य के वीतरागी निर्विकल्प आनंद-रस की ही जिन्हें प्यास है, जिन्हें राग की तथा पुण्य की प्यास नहीं है, ऐसे परमानंद के पिपासु भव्य जीवों के हेतु शास्त्रों में परमानंद की धारा बहा दी है... वाह! संतों ने तो परम आनंद की प्याऊ लगाई है! जैसे प्रचुर ग्रीष्म में तृषातुरों के लिये मधुर शीतल जल की प्याऊ लगाई हो और तृषातुर जीव वहाँ आकर प्रेम से उसका पान करें तो उनका हृदय तृप्त होता है; उसीप्रकार संसार-वन की आकुलतारूपी ग्रीष्म में भ्रमण करते-करते थक हुए प्राणियों के हेतु भगवान के समवसरण में और संतों की छाया में वीतरागी आनंदरस की प्याऊ लगी है, वहाँ परमानंद के पिपासु भव्य जीव जिज्ञासा से प्रेमपूर्वक आकर शुद्धात्मा के अनुभवरूप अत्यंत मधुर अमृतरस का पान करके तृप्त होते हैं, अरे! कहाँ नववें ग्रैवेयक से लेकर सप्तम नर्क तक का दु:खद दावानल और कहाँ इस चैतन्य के परम आनंद-अनुभवरूपी सुख के वेदन की शांति! अरे! चैतन्य के परम आनंद का अनुभव किये बिना सब दु:खरूप लगता है, इससे भयभीत होकर जो चैतन्य-सुख के लिये लालायित हैं—ऐसे जीव शुद्धात्मा के अनुभव की ओर जाते हैं; उन्हें पंच परमेष्ठी की भक्ति तथा शुद्ध आत्मा का रत्नत्रय ही प्रिय में प्रिय है, ऐसे जीवों को स्वानुभवरस का पान कराके संत उनकी तृषा मिटाते हैं।

जैनधर्म का जीवन अर्थात् परमार्थ आत्मा की अनुभूति

❀ जैनधर्म का जीवन अर्थात् शुद्धनय द्वारा एक परमभावस्वरूप आत्मा की अनुभूति। ऐसी अनुभूति, वह मोक्षमार्ग है, वह जैन-सिद्धांत का सार है, वह मुमुक्षु का जीवन है।

❀ अंतर में निर्विकल्प होकर जो परमभावरूप शुद्धतत्त्व का ही साक्षात् अनुभव करते हैं, वे परमभावदर्शी हैं, वे शुद्धनयरूप परिणमित हुए हैं, इसलिये उन्हें पर्याय के भंगभेदरूप अनेक प्रकार बतलानेवाले व्यवहार को जानने का अब कोई प्रयोजन नहीं है। गुण-गुणी के भेदरूप व्यवहार द्वारा भी जो परमार्थ अभेद आत्मा बतलाने का प्रयोजन था, उस परमार्थतत्त्व में ही जो पहुँच गये हैं और उसी का अनुभव कर रहे हैं, उन्हें अब गुणभेद इत्यादि का कोई प्रयोजन नहीं है।

❀ जो परमार्थतत्त्व के निर्विकल्प अनुभव में स्थित नहीं हैं और विकल्पदशा में हैं, वे पर्याय की उस-उस काल की शुद्धता तथा अशुद्धता को जानकर उसका विवेक करते हैं, इसलिये उनको उस-उस काल का व्यवहार जानने में आता है, वह प्रयोजनवान है। भले ही वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है, परंतु जाननेयोग्य तो है ही। व्यवहार को जानते समय भी उनकी दृष्टि में तो एकरूप शुद्ध परमार्थतत्त्व का ही आदर है।

❀ जो पर्याय शुद्धनयरूप होकर परमार्थस्वभाव के अनुभव में वर्तती है, वह तो एकरूप शुद्ध हुई है; उसे तो अभेद के अनुभव में किसी भेद का-व्यवहार का लक्ष नहीं है; परंतु वह जीव जब व्यवहार में होता है, तब अपूर्ण दशा और उसमें अशुद्धता, निमित्त आदि व्यवहार को जानता है। अंतर में उस समय प्रतीति है कि इस व्यवहार का आश्रय छोड़कर परमार्थ के अनुभव में स्थिर होना ही प्रयोजनरूप है।

❀ ध्यान द्वारा जो शुद्धस्वभाव में एकाग्र होकर शुद्ध सुवर्ण जैसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें अशुद्धता का अनुभव करना नहीं रहता, इसलिये अशुद्धता को देखनेवाले

व्यवहार का उनको कोई प्रयोजन नहीं रहा। साधक-दशा में व्यवहार के कई प्रकार होते हैं, जब जो प्रकार हो, तब उस प्रकार को व्यवहार जानता है; परंतु शुद्धनय में जो लीन नहीं हैं, उन्हें वह व्यवहार का ज्ञान प्रयोजनरूप है। जो शुद्धनय से एक परमभाव का ही अनुभव कर रहे हैं, उन्हें भेदरूप अनेक भावोंवाले व्यवहार का क्या काम ?

❀ शुद्धनय आत्मा के एक अचलित पूर्ण अखंड स्वभाव को प्रगट करता है अर्थात् उसरूप अपने को अनुभवता है, उसमें कोई अशुद्धता या भेद के विकल्प नहीं हैं।

❀ ऐसे अखंड शुद्धतत्त्व को अनुभव में लिये बिना, लक्ष में लिये बिना, केवल भेद और अशुद्धता को जानना चाहे तो उसे व्यवहारनय का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता, वह तो सिर्फ अशुद्धता के अनुभव में ही पर्यायबुद्धि से रुक जाता है, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो परमार्थ के अनुभवरूप प्रयोजन जिसके लक्ष में हैं, ऐसा जीव, व्यवहार के समय व्यवहार को जैसा है, वैसा जानता है—इसप्रकार जाना हुआ व्यवहार प्रयोजनवान है। प्रयोजनवान इसलिये कहा है कि उसका ज्ञान करने पर भी वह व्यवहार के आश्रय में रुकता नहीं है परंतु पर्याय में शुद्धता की वृद्धि करके परमार्थ की ओर झुकता जाता है और अशुद्धता को छोड़ता जाता है। इसप्रकार परमार्थ के अनुभव से साधक अपने प्रयोजन को साधता है। दो नय भिन्न हैं, दोनों का विषय भिन्न है, दोनों का कार्य-काल भी भिन्न है, दोनों नय स्वयं अपने समय में कार्यकारी हैं। जब परमार्थ आत्मा की अनुभूतिस्वरूप शुद्धनय वर्तता है, उससमय व्यवहारनय नहीं होता, और जब परमार्थ के अनुभवरूप शुद्धनय नहीं होता, उस काल अशुद्धता को जाननेवाला व्यवहारनय होता है। इसप्रकार अपने-अपने समय में दोनों नय कार्यकारी हैं; परंतु सम्यक्त्वादि की प्राप्ति तो शुद्धनय के अनुभव से ही होती है, व्यवहार के आश्रय से सम्यक्त्वादि नहीं होते; यह महान सिद्धांत है और यह जैनधर्म का जीवन है। परमार्थस्वरूप एक शुद्ध आत्मा के अनुभव द्वारा मुमुक्षु जीव मोक्ष को साधते हैं।

[समयसार गाथा 12 के प्रवचन से]

सम्यग्दर्शन के आठ अंग की कथा

सम्यक्तयुत आचार ही संसार में एक सार है,
जिनने किया आचरण उनको नमन सौ-सौ बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिये,
अरु पापियों का हाल सुनकर पाप तजना चाहिये।

(7) वात्सल्य-अंग में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा

[पहली निःशंक अंग में प्रसिद्ध अंजनचोर की कथा, दूसरी निःकांक्ष अंग में प्रसिद्ध सती अनंतमती की कथा, तीसरी निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा, चौथी अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती-रानी की कथा, पाँचवीं उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनेन्द्र-भक्त सेठ की कथा और छठवीं स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण मुनि की कथा आपने पढ़ी; अब सातवीं कथा आप यहाँ पढ़ेंगे।]

लाखों वर्षा पुरानी मुनिसुव्रत तीर्थंकर के समय की बात है। उज्जैननगरी में श्रीवर्मा नाम के राजा राज्य करते थे; उनके बलि आदि चार मंत्री थे; जो धर्म की श्रद्धा से रहित नास्तिक थे।

एक बार उज्जैन नगरी में सात सौ मुनियों के संघसहित अकम्पनाचार्य पधारे। लाखों नगरजन मुनियों के दर्शनार्थ गये; राजा को भी उनके दर्शनों की अभिलाषा हुई और मंत्रियों को भी साथ चलने को कहा। यद्यपि बलि आदि मिथ्यादृष्टि मंत्रियों को जैन मुनियों के प्रति श्रद्धा नहीं थी, परंतु राजा की आज्ञा होने से उन्हें भी साथ जाना पड़ा।

राजा ने मुनियों को वंदन किया; परंतु ज्ञान-ध्यान में लीन मुनिराज तो मौन थे। मुनियों

की ऐसी शांति और निस्पृहता देखकर राजा तो प्रभावित हुआ; परंतु मंत्रियों को अच्छा नहीं लगा; वे दुष्टभाव से कहने लगे कि—महाराज! इन जैन मुनियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिये ये मौन रहने का ढोंग करते हैं।—इसप्रकार निन्दा करते हुए चले जा रहे थे कि रास्ते में श्रुतसागर नाम के मुनि मिले, उनसे मुनिसंघ की निंदा सहन नहीं हुई, इसलिये मंत्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रयधारक मुनिराज ने अनेकांत-सिद्धांत के न्यायों द्वारा मंत्रियों को कुयुक्तियों का खंडन करके उन्हें मौन कर दिया। राजा की उपस्थिति में हार जाने से मंत्रियों को अपमान लगा।

अपमान तथा क्रोध से भरे हुए वे पापी मंत्री रात्रि के समय मुनि को मारने लगे। ध्यान में लीन मुनिराज पर तलवार उठाकर जहाँ मारने को उद्यत हुए कि वहाँ अचानक उनके हाथ जहाँ के तहाँ रह गये... अरे! प्रकृति भी ऐसी हिंसा नहीं देख सकी। तलवार उठाया हुआ हाथ ज्यों का त्यों रह गया और उनके पैर जमीन से चिपक गये!

प्रात:काल लोगों ने यह दृश्य देखा। जब राजा को मंत्रियों की दुष्टता की खबर पड़ी, तब राजा ने उन्हें गधे पर बैठाकर नगर से बाहर निकाल दिया। युद्ध-कला में प्रवीण बलि आदि मंत्री घूमते-फिरते हस्तिनापुर पहुँचे और वहाँ राजा के मंत्री बन गये।

हस्तिनापुर नगरी भगवान शांतिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथ इन तीन तीर्थंकरों की जन्मभूमि है। यह घटना जब घटित हुई, उस समय हस्तिनापुर में चक्रवर्ती के पुत्र पद्मराजा राज्य करते थे। उनके एक भाई मुनि हो गये थे—उनका नाम विष्णुकुमार था। वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते थे। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गयी थीं, परंतु ऋद्धियों के प्रति उनका लक्ष नहीं था। उनका लक्ष तो आत्मा की केवलज्ञानलब्धि साधने पर केन्द्रित था।

सिंहरथ नाम का एक राजा, हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और बहुत समय के परेशान करता रहता था। पद्मराजा उसे जीत नहीं पाते थे। अंत में बलि मंत्री ने युक्तिपूर्वक उसे जीत लिया। इससे प्रसन्न होकर राजा ने उससे वचन माँगने को कहा; लेकिन बलि ने कहा—जब आवश्यकता होगी, तब माँग लूँगा।

इधर अकम्पन आचार्य 700 मुनियों के संघसहित देश में विकार करते-करते तथा भव्य जीवों को वीतरागी धर्म का उपदेश देते-देते हस्तिनापुर में आये। अकंपन मुनिराज को

देखकर बलि मंत्री भयभीत हो उठा! उसे डर लगा कि इन मुनियों के द्वारा यदि हमारा उज्जैन का पाप प्रगट हो जायेगा तो यहाँ से भी राजा हमें अपमानित करके निकाल देगा। क्रोधवश अपने वैर का बदला लेने के लिये वे मंत्री विचार करने लगे।

अंत में उन पापी जीवों ने सब मुनियों को जीवित ही जला देने की एक दुष्ट योजना बनायी। राजा के पास जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँगा और कहा—हे महाराज! हमें एक महान यज्ञ करना है, इसलिये हमें सात दिन के लिये राज्य दीजिये।

अपने वचन का पालन करने के लिये राजा ने उन मंत्रियों को सात दिन के लिये राज्य सौंप दिया और स्वयं महल में जाकर रहने लगे।

बस! राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मंत्रियों ने 'नरबलि यज्ञ' करने की घोषणा की। और जहाँ मुनि विराजमान थे, उनके चारों ओर हिंसा के लिये पशु, दुर्गंधमय हड्डियाँ, माँस, चमड़े के ढेर लगा दिये और उन्हें प्रज्वलित करके बड़ा कष्टप्रद वातावरण बना दिया। मुनियों के चारों ओर अग्नि की लपटें उठने लगीं और इसप्रकार मुनियों पर घोर उपसर्ग आ पड़ा।

लेकिन मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि! अग्नि के बीच भी शांति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान कर रहे थे। बाहर भले अग्नि जल रही थी, परंतु उन्होंने अंतर में रंचमात्र भी क्रोधाग्नि प्रगट न होने दी। अग्नि की लपटें उनके समीप चली आ रही थीं; लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनापुर के जैनसंघ को बड़ी चिंता और दु:ख हो रहा था। मुनियों का उपसर्ग दूर न हो, तब तक के लिये सब श्रावकों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया।

अरे, मोक्ष के साधक 700 मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर प्रकृति भी प्रकंपित हो उठी... आकाश में श्रवण नक्षत्र काँप रहा हो!—ऐसा एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुख से हाहाकार निकल पड़ा। उन्होंने आचार्य से बात की। आचार्य महाराज ने निमित्तज्ञान से जानकर कहा कि—अरे! इस समय हस्तिनापुर में 700 मुनियों के संघ पर बलिराजा घोर उपसर्ग कर रहा है और मुनियों का जीवन भय में है।

क्षुल्लकजी ने पूछा—प्रभो! उन्हें बचाने का उपाय?

आचार्य ने कहा—हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रियाऋद्धि प्रगट हुई है कि वे अपना रूप जितना बनाना चाहें, बना सकते हैं; परंतु वे

अपनी आत्मसाधना में लीन हैं, उन्हें अपनी ऋद्धि की और मुनियों के उपसर्ग की खबर भी नहीं है।

यह बात सुनकर आचार्य की आज्ञा लेकर क्षुल्लकजी शीघ्र ही विष्णुकुमार मुनि के पास गये और उन्हें सारा वृत्तांत सुनाया तथा प्रार्थना की कि हे नाथ! आप विक्रियाऋद्धि द्वारा मुनियों के इस उपसर्ग को शीघ्र दूर करें।

यह बात सुनते ही विष्णुकुमार मुनि के अंतर में 700 मुनियों के प्रति परम वात्सल्यभाव प्रगट हुआ। विक्रियाऋद्धि की परीक्षा हेतु उन्होंने अपना हाथ लंबा किया तो वह मानुषोत्तर पर्वत तक समस्त मनुष्यलोक में फैल गया। वे शीघ्र ही हस्तिनापुर आ पहुँचे और अपने भाई से—जो कि हस्तिनापुर का राजा था—कहा – अरे भाई! तेरे राज्य में यह क्या अनर्थ हो रहा है?

पद्मराजा ने कहा : प्रभो! मैं लाचार हूँ, अभी मेरे हाथ में शासन की बागडोर नहीं है।

अपने भाई से सारी कहानी सुनकर विष्णुकुमार मुनि ने 700 मुनियों की रक्षा के हेतु कुछ समय के लिये मुनिपना छोड़कर एक वामन (ठिगने) ब्राह्मण पंडित का रूप धारण किया और बलिराजा के पास जाकर अत्यंत मधुर स्वर में उत्तम श्लोक बोलने लगे।

बलिराजा उनके दिव्यरूप और मधुर वाणी से अत्यंत प्रभावित हुआ और कहने लगा कि आपने आकर हमारे यज्ञ की शोभा में वृद्धि की है, जो चाहें माँग लें:—ऐसा कहकर बलिराजा ने विद्वान ब्राह्मण का सन्मान किया।

अरे, अयाचक मुनिवर, जगत के नाथ... उन्हें अपने सात सौ साधर्मियों की रक्षा के हेतु याचक बनना पड़ा! ऐसा है धर्मवात्सल्य! मूर्ख राजा को कहाँ खबर थी कि वह जिन्हें याचना करने को कह रहा था, वे ही मुनिराज उसे धर्म प्रदान करके हिंसा के घोर पाप से छुड़ायेंगे।

ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने राजा से तीन डग धरती माँगी। राजा ने प्रसन्न होकर धरती माप लेने को कहा। बस, हो चुका!.....

राजा ऊपर देखता है, इतने में तो विष्णुकुमार ने अपने वामन शरीर के बदले विराटरूप धारण कर लिया। विष्णुकुमार मुनि का विराट स्वरूप देखकर राजा चकित हो गया! उसकी समझ में नहीं आया कि यह क्या हो रहा है!

विराटस्वरूप विष्णु मुनिराज ने एक पैर मनुष्यलोक के एक छोर पर और दूसरा दूसरे

छोर पर रखकर बलिराजा से कहा—बोल, अब तीसरा पैर कहाँ रखूँ? तीसरा पैर रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर रखकर तुझे पाताल में उतारे देता हूँ।

मुनिराज की विक्रियाऋद्धि से चारों ओर कोलाहल मच गया, सारा ब्रह्मांड काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर विष्णुकुमार मुनि की स्तुति की और विक्रिया समेट लेने की प्रार्थना की। बलिराजा तथा चारों मंत्री मुनिराज के चरणों में गिरकर अपनी भूल की क्षमा माँगने लगे—प्रभु क्षमा करो! हमने आपको पहिचाना नहीं!

विष्णु मुनिराज ने क्षमापूर्वक उन्हें अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया तथा जैनमुनियों की वीतरागी क्षमा की महिमा बतलाकर आत्महित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय-परिवर्तन हो गया और घोर पाप की क्षमा माँगकर उन्होंने आत्महित का मार्ग ग्रहण किया। अहा, विष्णुकुमार की विक्रियाऋद्धि बलि आदि मंत्रियों को धर्मप्राप्ति का कारण बन गयी! उन जीवों ने अपने परिणाम क्षणभर में बदल लिये... अरे, ऐसे शांत-वीतरागी मुनियों पर हमने ऐसा उपसर्ग किया! हमें धिक्कार है! ऐसे पश्चात्तापपूर्वक उन्होंने जैनधर्म अंगीकार किया। इसप्रकार विष्णु मुनिराज ने बलिराजा आदि का उद्धार किया... और सात सौ मुनियों की रक्षा की।

चारों ओर जैनधर्म का जय-जयकार होने लगा। शीघ्र ही वह हिंसक यज्ञ रोक दिया गया। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और हजारों श्रावक परम भक्तिभाव से मुनियों की सेवा में लग गये। विष्णुकुमार ने स्वयं जाकर मुनियों की वैयावृत्त्य की और मुनियों ने विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की। अहा! वात्सल्य का वह दृश्य अद्भुत था! बलि आदि मंत्रियों ने भी मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्तिभाव से मुनियों की सेवा की।

पश्चात् वे मुनि आहार के लिये हस्तिनापुर नगरी में पधारे। हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्तिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया; उसके बाद श्रावकों ने भोजन ग्रहण किया। देखो, श्रावकों को भी कितना धर्मप्रेम था! धन्य वे श्रावक... और धन्य वे साधु!

जिस दिन यह घटना हुई, उस दिन श्रावक शुक्ला पूर्णिमा थी। विष्णुकुमार मुनिराज के महान वात्सल्य के कारण 700 मुनियों की रक्षा हुई, जिससे यह दिवस रक्षापर्व के रूप में प्रसिद्ध हुआ, और वह आज भी मनाया जाता है।

मुनिरक्षा का कार्य पूर्ण होने पर श्री विष्णुकुमार मुनि ने फिर निर्ग्रंथ मुनिदशा धारण की और ध्यान द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध रत्नत्रयधर्म के साथ अभेद करके ऐसा वात्सल्य किया कि अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पधारे।

[विष्णुमुनिराज की कथा हमें ऐसी शिक्षा देती है कि धर्मात्मा साधर्मीजनों को अपना बंधु मानकर उनके प्रति अत्यंत प्रीतिरूप वात्सल्य रखना चाहिये, उनके प्रति आदर-सन्मानपूर्वक हर प्रकार से उनकी सहायता करनी चाहिये, उन पर कोई संकट आ गया हो तो अपनी शक्ति अनुसार उसका निवारण करना चाहिये। इसप्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यंत स्नेहपूर्ण बर्ताव करना चाहिये। जिन्हें धर्म का प्रेम हो, उन्हें धर्मात्मा के प्रति प्रेम होता है; धर्मातमा के ऊपर आया संकट वे देख नहीं सकते।]

अनुभव-रस का मंथन

[वांकानेर की तत्त्वचर्चा से]

- आप अनुभव की बात करते हैं, वह हमें अत्यंत प्रिय है, परंतु ऐसा अनुभव कैसे करें ?

  विकल्प से ज्ञान को भिन्न जानने का अभ्यास करना। ज्ञान महान है, ज्ञान अनंत चैतन्यभावों से भरा हुआ है, और राग-विकल्प तो चैतन्य से शून्य हैं—ऐसा भेदज्ञान करने से अनुभव होता है।

- छट्ठे गुणस्थान के शुभविकल्प को भी प्रमाद कहा है, तो वह शुभविकल्प ज्ञान की जाति कैसे होगा ? अग्नि का कण भले ही छोटा-सा हो, परंतु उसे बर्फ की जाति का तो नहीं कहा जा सकता। उसीप्रकार कषाय-अंश भी शुभ हो परंतु उसे कहीं अकषाय-

शांति की जाति का नहीं कहा जा सकता। विकल्प और ज्ञान की जाति ही भिन्न है। ऐसी भिन्नता का निर्णय करना, वह ज्ञानस्वभाव के अनुभव का कारण है।

- राग स्वयं दु:ख है, या उसमें एकत्वबुद्धि वह दु:ख है ?

  राग स्वयं दु:ख है, इसलिये उसमें एकत्वबुद्धि, वह दु:ख ही है। दु:ख के भाव में जिन्हें एकत्व भासित होता है (अर्थात् उसमें अपनापन प्रतीत होता है) वह दु:ख से कैसे छूटेगा ?

  — और उससे विरुद्ध राग से भिन्न आनंदस्वभावी आत्मा स्वयं सुखरूप है, इसलिये उसमें एकत्वपरिणति, वह भी सुख है।

- राग से हटकर परिणति अंतर्मुख क्यों नहीं होती ? क्योंकि अंतर के चैतन्यतत्त्व की सच्ची महिमा नहीं आती और राग की महिमा नहीं छूटती। अंतर का आनंदतत्त्व—जो कि रागरहित है, उसकी गंभीर महिमा यदि समझे तो ज्ञान उसमें उन्मुख हुए बिना न रहे। अचिंत्य अद्भुत स्वतत्त्व का ज्ञान होते ही परिणाम शीघ्रता से उस ओर झुक जाते हैं—क्षणभेद नहीं है। जहाँ ज्ञान अंतर्मुख हुआ, वहाँ दूसरे अनंत गुण भी स्वयं अपने निर्मलभावरूप में खिल उठे और अनंत गुण के वीतरागी चैतन्यरस का अचिंत्य स्वाद आने लगा।—इसका नाम सम्यग्दर्शन है।

- सम्यक्त्व की तैयारीवाले जीव को पूर्व भूमिका में कैसे विकल्प होते हैं ? प्रथम तो उस जीव ने अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा लक्ष में ली है; उसे उस स्वभाव की ओर ढलते विचार होते हैं। कोई अमुक प्रकार का विचार या विकल्प हो, ऐसा नियम नहीं है; परंतु समुच्चयरूप से विकल्प का रस छूटता है और चैतन्यरस आता है... इसलिये परिणति स्वभाव की ओर उल्लसित हो—ऐसे ही परिणाम होते हैं। किसी को 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे विचार होते हैं; किसी को सिद्धसमान आत्मस्वरूप है, ऐसे विचार होते हैं; किसी को आत्मा के अतीन्द्रिय विचार होते हैं; किसी को ज्ञान और राग की भिन्नता के विचार होते हैं; किसी को आत्मा की अनंत शक्ति का विचार होता है;—इसप्रकार किसी भी पक्ष से स्वभाव की ओर झुकने के विचार होते हैं।

— पश्चात् जब अंतर की किसी अद्भुत उग्र धारा से स्वभाव की ओर बढ़ता है, तब विकल्प शांत होने लगते हैं और चैतन्यरस आने लगता है—उस समय विशुद्धता के अति सूक्ष्म परिणामों की धारा द्वारा अंतर में 'तीन करण' हो जाते हैं। इन तीन करणों के काल में जीव के परिणाम स्वरूप के चिंतन में अधिकाधिक लीन होते जाते हैं और फिर शीघ्रता से दूसरे ही क्षण निर्विकल्प विज्ञानघन होकर परम शांत अनुभूति द्वारा जीव स्वयं अपने को साक्षात् अनुभव करता है—यह सम्यक्त्व की विधि है।

पहले आत्मा के स्वभाव से संबंधित अनेक प्रकार के विचार होते हैं; उनके द्वारा स्वभाव-महिमा को पुष्ट करता जाता है।—परंतु उस समय उसे स्वभाव को पकड़ने के ज्ञान की महत्ता है; वह ज्ञान विकल्प से अलग होकर स्वभाव की ओर ढलता है। वहाँ 'मैं शुद्ध' आदि जो विकल्प हैं, वे अनुभव की ओर झुकने का कारण नहीं हैं, ज्ञान ही विकल्प से अधिक होकर (पृथक् होकर) अनुभव करता है।

- **प्रश्नः**—आत्मा पर को नहीं करता तथा अपनी पर्याय को भी नहीं करता—यह ठीक है?

  उत्तरः—नहीं; ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं कर्ता होकर अपनी सम्यक्त्वादि परिणति को करता है, ऐसा उसका कर्तास्वभाव है। अनुभव में विकल्प से रहित ऐसी निर्मल पर्याय हो जाती है, उसका कर्ता आत्मा है। हाँ, उस अनुभव के समय 'मैं निर्मल पर्याय को करूँ' ऐसा विकल्प नहीं है, परंतु स्वयं परिणमित होकर निर्मल पर्यायरूप होता है। उस निर्मल पर्याय के कर्तारूप से विकल्परहित वह आत्मा परिणमित होता है। विकल्प के बिना भी अपनी शुद्धपर्याय के कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारकरूप परिणमन करने का जीव का स्वभाव है। वह परिणमन जीव का स्वभाव है। वह परिणमन जीव का अपना है। जिसप्रकार आत्मा पर को नहीं करता और विकल्प को नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा अपनी ज्ञानादि पर्याय को भी नहीं करता—ऐसा नहीं कहते; परंतु 'में कर्ता और पर्याय को करूँ'—ऐसे भेद के विकल्प करना आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं—ऐसा समझना।

एकत्व का अनुभव

* अरे, एकत्वस्वरूप आत्मा की अनुभूति में 'मैं ज्ञान हूँ' इतना विकल्प भी जहाँ नहीं चल सकता, वहाँ बाह्यलक्षी अन्य राग की क्या बात ? जब तक गुण-भेद के एक सूक्ष्म विकल्प की भी पकड़ रहे, तब तक एकत्वरूप शुद्ध आत्मा श्रद्धा-ज्ञान या वेदन में नहीं आता। आत्मा के एकत्व में जो परिणमित हुआ, वह समस्त विकल्पों से पृथक् हुआ, ज्ञान और विकल्प की सर्वथा भिन्नता को उसने जान लिया—अनुभव कर लिया।

* तत्त्ववेदी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि समस्त विभावरहित एक शुद्ध जीवास्तिकाय ही हमारा स्वतत्त्व है, अन्य कोई हमारा नहीं।—ऐसे एकत्व का अनुभव करनेवाला तत्त्ववेदी जीव अत्यंत अल्पकाल में ही अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है।

* वन-जंगल में वीतरागी संत प्रतिक्षण और प्रतिपल ऐसे अंतरतत्त्व का निर्विकल्प होकर अनुभव करते हैं। अहा! धन्य है वह अनुभव का क्षण! धर्मी-गृहस्थ तो गृहवास में भी ऐसा निर्विकल्प अनुभव करते हैं।

* अहा, ऐसे अपने अंतरतत्त्व का निर्णय करे तो अंतरोन्मुख होकर अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो। स्वद्रव्य को पहचानकर वह उपादेय करने जैसा है। उपादेय किसप्रकार करना ?—उसकी ओर उन्मुख होकर अनुभव किया, इसलिये वह उपादेय हुआ, और उससे विरुद्ध समस्त विभाव हेय हो गये, उनका लक्ष छूट गया।

* जो एक सहज ज्ञायकभाव है, वह परमतत्त्व है, और दूसरे सब भेद-भंगरूप व्यवहारभाव, वह अपरमभाव है। परमभावरूप जो शुद्धतत्त्व है, उसके अनुभव से प्रचुर आनंदसहित आत्मा का निज-वैभव प्रगट होता है, वह मोक्षमार्ग है। अतः परमभाव ही अनुभव करनेयोग्य है।

* मोक्षमार्ग के शुद्धभाव में व्यवहार के किसी भेद-भंग का आलंबन नहीं है। एक सहज परमतत्त्व का ही आलंबन है; उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शन होता है। उसके अनुभव

से ही चारित्रदशा और केवलज्ञान होता है।

* ऐसे अभेद परमतत्त्व के अनुभव से पूर्व भेद के विकल्प आते हैं, शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय आदि के विचार में साथ-साथ विकल्प आते हैं, उन विकल्पों का खेद है, उनकी उमंग नहीं है, उनके प्रति उत्सुकता नहीं है, शुद्धस्वभाव के आने की ही उमंग और उत्सुकता है। अरे, सीधे के सीधे परमस्वभाव में ही पहुँच जाने की भवना है, उसके ही अनुभव का लक्ष है, लेकिन बीच में भेदविकल्प आ जाते हैं, उनकी भावना नहीं।

[यहाँ अत्यंत अनुग्रह से अनुभव को प्रोत्साहित करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि—]

* भाई! यह तो जन्म-मरण के दु:ख मिटाने की और परम आनंद का अनुभव करने की अपूर्व बात है। आत्मा के परमस्वभाव की ऐसी बात का श्रवण कभी महा भाग्य से मिलता है। इसलिये अंतर में गहरे उतरकर यह समझने जैसा है।

* अहो, वीतरागी संतों के हृदय खोलकर अंतरस्वभाव के रहस्य प्रगट करके मुमुक्षु जीवों को बतलाये हैं। तेरी वस्तु तुझे बतलायी है। ऐसी वस्तु तेरे अंतर में है; तू स्वयं ऐसा परमभाव है। अंतर्मुख होकर ऐसे परमतत्त्व को अनुभव में ले, तो तेरे मोक्ष का द्वार खुल जाये।

* अहो, यह तो अपूर्व सिद्धि का मार्ग है। तत्त्वरसिक होकर अपने ऐसे उत्तम तत्त्व को तू निर्णय में ले। ऐसे परम तत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा नहीं—ऐसा अनुभव करने से अपूर्व सिद्धि प्राप्त होती है। बारंबार चिंतन-मनन करके अपने तत्त्व का सेवन कर, उसका अनुभव कर।

* कोई कहता है—इसमें तो दूसरा सब उड़ जाता है? तो कहते हैं कि दूसरा कदाचित् सब चला जाये, लेकिन तेरा एक शुद्ध स्वतत्त्व तो शेष रहता है, उसे तू लक्ष में ले। तेरे उस स्वतत्त्व में अनंतचतुष्टय भरे हुए हैं, अनंत चैतन्यरस के आनंद से वह भरपूर है। उसका आश्रय करने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। फिर दूसरे का तुझे क्या काम है? तू अपने एकत्व में रह न? उसी में तेरा सब समाया है।

श्री पंडित दीपचंदजी साधर्मीकृत

ज्ञान-दर्पण

[अंक 323-24 से आगे]

राग-द्वेष-मोह के विभाव धारि आयौ तौउ, निहचै निहारि नाहिं परपद गह्यौ।
एक ज्ञानजोति कौ उद्योत यौ अखंड लियें, कहा भयौ जो तौ जगजालमाहिं बह्यौ है॥
महा अविकारी सुद्धपद याकौ ऐसौ जैसी, जिनदेव निजज्ञानमाहिं लहलह्यो है।
ज्ञायक प्रभा मैं द्वैतभाव कोऊ भासै नाहिं, स्वसंवेदनरूप यौ हमारो बनि रह्यो है॥37॥

ज्ञान उपयोग ज्ञेयमाहिं दे अनादिही कौ, करी अरुझार आप एक भूलि बह्यौ है।
अमल प्रकाशवत् मूरतिस्यौं बँधि रह्यौ, महा निरदोष तातैं पर ही मैं फह्यौ है॥
ऐसे ह्वै रह्यौ है तौऊ अचल अखंडरूप, चिदरूपपद मेरो देव जिन कह्यौ है।
चेतना निधान मैं न आन परवेस कोऊ, स्वसंवेदनरूप यौ हमारा बनि रह्यौ है॥38॥

जीव नटै नाट थाट गुण है अनंत भेष, पातरि सकति रसरीति विसतारा की।
चेतना सरूप जाको दरसन देखतु है, सत्ता मिरदंग ताल परमेय प्यारा की॥
हाव-भाव आदिक कटाक्षन कौ खेयवौ जो, सुर कौ जमाव सब समकित धारा की।
आनंद की रीति महा आप करै आपहि कौं, महिमा अखंड ऐसी आतम अपारा की॥39॥

जैसैं नर कोऊ भेष पशु के अनेक धरै, पशु नहीं होइ रहै जथावत नर है।
तैसैं जीव च्यारि गति स्वांग धरै चिरही कौ, तजै नाहिं एक दिन चेतना कौ भर है॥
ऐसी परतीति कीये पाइये परमपद, होइ चिदानंद सिवरमणी कौ वर है।
सासतौ सुथिर जहाँ सुख कौ विलास करै, जामैं प्रतिभासैं जेते भाव चराचर है॥40॥

(दोहा)

निज महिमामैं रत भए, भेदज्ञान उर धारि।
ते अनुभौ लहि आपकौ, करम कलंक निवारि॥41॥

(क्रमशः)

महान आत्मार्थ को साधने में तत्पर होओ! छोटी-छोटी बातों में मत रुको!

यह जीव जगत की छोटी-बड़ी घटनाओं में उलझकर आकुलित होता है... उनके विचार-चक्र में इस तरह फँस जाता है कि निकल नहीं पाता और आत्मप्रयत्न में आगे नहीं बढ़ पाता। आत्मार्थी को ऐसी घटनाओं में न फँसकर अपना आत्मकार्य साधना चाहिये—ऐसा संतों का संबोधन है; क्योंकि स्वभाव की अचिंत्य महिमा के प्रति उल्लसित वीर्यवान जीव ही आत्मा की साधना कर सकता है।

हे जीव! जिनका तेरे आत्मार्थ के साथ संबंध नहीं है, ऐसी छोटी-छोटी बातों में तू अटक जायेगा तो अपने महान आत्मप्रयोजन को कब सिद्ध करेगा! जगत में अनुकूल और प्रतिकूल प्रसंग तो बनते ही रहेंगे, तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों को कहाँ ऐसे प्रसंगों का सामना नहीं करना पड़ा? मान और अपमान, निंदा और प्रशंसा, सुख और दु:ख, संयोग और वियोग, रोग और निरोग;—ऐसे अनेक परिवर्तनशील प्रसंग तो जगत में बनते ही रहेंगे; परंतु यदि आत्मार्थी ऐसे छोटे-छोटे प्रसंगों में ही आत्मा को रोक देगा तो आत्मार्थ के महान कार्य को कब साधेगा? क्या तेरे आत्मार्थ का जोर इतना कम है कि बाहर के क्षणिक प्रसंगों से वह खंडित हो जाये?—आत्मार्थ की साधना में ऐसी ढील नहीं चल सकती।

इसलिये ऐसे प्रसंगों की अत्यंत उपेक्षा कर... उनमें अपनी शक्ति मत गँवा; उन प्रसंगों का तेरे आत्मार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है—ऐसा निर्णय करके जिसप्रकार आत्मार्थ की सिद्धि हो, उसीप्रकार तू प्रवर्त! और आत्मार्थ की सिद्धि में बाधक हों, ऐसे परिणामों को अत्यंतरूप से छोड़.... उग्र प्रयत्न द्वारा छोड़! शूरवीर होकर अपनी सर्वशक्ति को आत्मसाधना में लगा। तुझे महान आनंद होगा, अपूर्व शांति मिलेगी।

विविध परिणमोंवाले जीव भी जगत में वर्तते रहेंगे, इसलिये उनका भी खेद-विचार छोड़... और उपरोक्त संयोगों की भाँति उनके साथ भी आत्मार्थ का संबंध नहीं है, ऐसा

समझकर उनके प्रति उपेक्षित हो... और आत्मार्थ-साधना में ही उग्ररूप से प्रवर्त! बारंबार आत्मपरिचय कर-करके उसकी गहराई में उतर!

किसीप्रकार अपने आत्मार्थ को साधना, यह एक ही इस जगत में मेरा कार्य है—इसप्रकार अतिदृढ़ निश्चयवंत हो! अपने आत्मार्थ के हेतु जो भी सहन करना पड़े, वह सहन करने को मैं तैयार हूँ; परंतु किसी भी प्रकार मैं अपने आत्मार्थ के कार्य से नहीं डिगूँगा, उसमें जरा भी शिथिल नहीं होऊँगा; आत्मा के प्रति अपने उत्साह में मैं कभी भंग नहीं पड़ने दूँगा।—अपनी सर्वशक्ति को, अपने समस्त ज्ञान को, अपने सारे वैराग्य को, अपनी श्रद्धा को, भक्ति को, उत्साह को, सहनशीलता को—अपने सर्वस्व को मैं अपने आत्मार्थ में लगाकर अवश्य अपने आत्मकार्य को साधूँगा।—ऐसे दृढ़ परिणाम द्वारा आत्मार्थ को साधने के लिये तत्पर हो।

आत्मार्थ को साधने की तेरी ऐसी सच्ची तत्परता होगी तो जगत में किसी की शक्ति नहीं है जो तेरे आत्मकार्य में विघ्न डाल सके। जहाँ आत्मार्थ की सच्ची तत्परता हे, वहाँ सारा जगत उसे आत्मार्थ की प्राप्ति में अनुकूल परिणमित हो जाता है और वह जीव अवश्य आत्मार्थ को साध लेता है।

इसलिये हे जीव! जगत में अन्य सब कुछ भूलकर तू अपने आत्मार्थ की सच्ची तत्परता कर... जिससे तुझे कुछ ही समय में महान आनंदसहित तेरे आत्मा की अवश्य प्राप्ति होगी।

—: ज्ञानी का लक्षण :—

जो जीव ज्ञानी के आत्मा में ज्ञान और राग की भिन्नता को जानता है, वह जीव अपने में भी ज्ञान और राग को अवश्य भिन्न मानता है... इसलिये उसे भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान होने पर वह जीव समस्त विकार के कर्तृत्व से रहित होकर आनंदमय ज्ञानपरिणाम से सुशोभित होता है।—ऐसा ज्ञान और राग की भिन्नता का भेदज्ञान ही ज्ञानी का लक्षण है। भेदज्ञान होने पर ही जीव बन्धभाव से छूटकर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है।

सोनगढ़ में प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर का भव्य आयोजन

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं; स्वास्थ्य बिलकुल अच्छा है। प्रतिदिन सवेरे श्री नियमसारजी पर एवं दोपहर को श्री समयसारजी शास्त्र पर प्रवचन होते हैं; रात्रि को तत्त्वचर्चा और शंका-समाधान का कार्यक्रम है। श्री जिनमंदिर में प्रातःकाल जिनेन्द्र-पूजन एवं सायंकाल जिनेन्द्र-भक्ति के कार्यक्रम नियमितरूप से भक्तिभावपूर्वक होते हैं। श्री वीरशासन जयंती एवं अष्टाह्निका एवं आनंदोल्लासपूर्वक मनाया गया।

श्रावण शुक्ला पंचमी दिनांक 15-8-72 से भाद्रपद कृष्णा 10 तारीख 2-9-72 तक प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर का आयोजन किया गया है; जिसमें दूर-दूर से आकर मुमुक्षु भाग ले रहे हैं। आनेवाले अतिथियों के लिये हर प्रकार की सुविधा है। भाद्रपद शुक्ला पंचमी से दसलक्षण पर्व प्रारंभ होगा। यहाँ वर्षा कम हुई है, परंतु पानी की कमी नहीं है। जो सज्जन आना चाहते हों, वे आगमन की सूचना निम्नोक्त पते पर दें, ताकि व्यवस्था में सुविधा रहे।

पता:—व्यवस्थापक,
श्री जैन अतिथि सेवासमिति, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

उज्जैन में अष्टाह्निका पर्व पर सिद्धचक्र-मंडल विधान एवं आध्यात्मिक प्रवचन

अष्टाह्निका महापर्व के अवसर पर सिद्धचक्र-मंडल विधान का आयोजन श्री दिगम्बर जिनमंदिर क्षीरसागर पर पंडित श्री गेंदालालजी शास्त्री बूंदी निवासी के तत्त्वावधान में सानंद संपन्न हुआ। इस अवसर पर दाहोद निवासी पंडित श्री कनुभाई भी पधारे थे। कार्यक्रम निम्नानुसार संपन्न हुआ। प्रतिदिन जाप्य, पूजन, तत्त्वचर्चा, भक्ति, शिक्षणवर्ग एवं सिद्धचक्र की जयमाला पर पंडित श्री गेंदालालजी सा. भावभीना अर्थ करते थे तथा प्रवचन भी होते थे। पंडित श्री कनुभाई दाहोदवालों के भी प्रवचन व भक्ति के कार्यक्रम बड़े रोचकता पूर्वक होते थे, जिससे सारा समाज बहुत प्रभावित हुआ।

27-7-72 को वेदीजी का भव्य जुलूस निकला, जिसमें श्री कनुभाई दाहोदवालों की भक्ति अपूर्व रही; जिसमें समाज के बच्चों से लेकर युवानों व वृद्धों तक में अपूर्व उत्साह रहा,

उसी दिन दोपहर को अतिशय क्षेत्र श्री मक्सी पार्श्वनाथ में वीरशासन जयंती सेठ श्री देवकुमारसिंहजी कासलीवाल इंदौर की अध्यक्षता में मनायी गयी। कार्यक्रमों में स्थानीय दिगम्बर जैन समाज ने अभूतपूर्व उत्साह से भाग लिया व सारे कार्यक्रम पूर्ण व सफल हुए।

चांदमल गांधी,
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल क्षीरसागर, उज्जैन

पुजारी-किसका ?

हे भाई! तू जब भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है, तब पूजा का शुभराग तुझे प्रिय है या भगवान की वीतरागता प्रिय है ?—उसका विचार कर। यदि वीतरागता का आदर और पूज्यबुद्धि हो तो तेरी पूजा सच्ची है; परंतु यदि राग का आदर हो, तो तूने वीतरागता को नहीं पूजा... तूने तो राग को ही पूजा है।

—: नये प्रकाशन :—

❀ **मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र** (उमास्वामी विरचित) दिगम्बर जैनाचार्यों के आधार सहित विशाल टीका। गुजराती टीकाकार—श्री रामजीभाई दोशी 'एडवोकेट' (जो श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ संस्था के भूतपूर्व अध्यक्ष हैं और आज भी संस्था को जिनका योग्य मार्गदर्शन प्राप्त है)।

अनुवाद—श्री पंडित परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। बड़ी साइज (क्राउन आठपेजी), पृष्ठ 740, मूल्य-सात रुपये (जो लागत से काफी कम है।) पोस्टेज पेकिंग अलग; कमीशन नहीं दिया जाता। पुस्तक की जिल्द बँध रही है, एक महीने बाद भेजी जा सकेगी। वर्षों से माँग होने के कारण यह चौथी आवृत्ति प्रकाशित हुई है।

❀ **सम्यग्दर्शन** (प्रथम भाग) (चौथी आवृत्ति) जिसमें पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों से लिये गये छोटे-छोटे लेखों द्वारा सम्यग्दर्शन का सरल मार्ग बतलाया गया है।

लेखक—श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद—मगनलाल जैन

पृष्ठ संख्या—(डिमाई साइज में) 272, मूल्य—2=50

❀ **भेदविज्ञानसार** (द्वितीयावृत्ति) श्री समयसारजी शास्त्र के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पर स्वामीजी के प्रवचनों का संग्रह। अत्यंत उपयोगी पुस्तक।

लेखक—श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद—मगनलाल जैन

पृष्ठ संख्या—280, मूल्य—2.00

❀ **मूल में भूल** (चौथी आवृत्ति) 'सत्तास्वरूप' पुस्तक तथा भैया भगवतीदास के निमित्त-उपादान दोहों पर स्वामीजी के प्रवचन।

लेखक—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, अनुवाद—श्री पंडित परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

❀ **छहढाला** (सचित्र) (नौवीं आवृत्ति) श्री पंडित दौलतरामजी कृत; जो जैन-समाज में एक पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रचलित है। जिसमें जैनधर्म का रहस्य गागर में सागर की भाँति भरा हुआ है। लागत मूल्य दो रुपये होने पर भी ज्ञान-प्रचारार्थ एक रुपये में दी जाती है।

पृष्ठ-208 रंगीन चित्रों सहित।

❀ **छहढाला** (मूल मात्र) बड़े टाईप में, पृष्ठ - 24, मूल्य : 00=20 पैसे

मिलने का पता:—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सर्व दु:खों की औषधि

रे जीव! कभी तुझे मानभंग का तीव्र दु:ख होता है न? और कभी कठोर वचन सुनकर या स्त्री-पुत्र संबंधी दु:ख होता है न? संसार में पग-पग पर होनेवाले अनेक प्रकार के भयानक दु:खों से छूटने के लिए तू कितनी दौड़धूप करता है? और फिर भी अभी तक तेरा दु:ख दूर नहीं हुआ; तो क्या किया जाये? वीतरागी संत तुझे एक अच्छी अमोघ औषधि बतलाते हैं कि जिसके सेवन से क्षण-मात्र में तेरे सब दु:ख विलीन हो जायेंगे।—वह औषधि क्या है?—सुन!

शुद्धचिद्रूप का स्मरण करनेवाले जीव के वे दु:ख कहाँ अलोप हो जाते हैं—उसकी खबर तक नहीं पड़ती! शुद्धचिद्रूप का स्मरण करते ही जीव को ऐसी शांति होती है कि दु:ख रहता ही नहीं। इसप्रकार परम सुख प्रदान करनेवाले शुद्धचिद्रूप का स्मरण ही भवदु:ख को मिटाने की अमोघ औषधि है। जहाँ उसका स्मरण किया, वहाँ सब दु:ख विलीन हो जाते हैं।

अहा, मुझे रत्न मिला!

वीतरागवाणीरूपी समुद्र के मंथन से जिसने शुद्धचिद्रूप-रत्न प्राप्त किया है, ऐसा मुमुक्षु चैतन्यप्राप्ति के परम उल्लासपूर्वक कहता है कि अहा! मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञ भगवान की वाणीरूप श्रुतसमुद्र का मंथन कर-करके किसी भी विधि से मैंने पूर्वकाल में जिसे कभी प्राप्त नहीं किया था—ऐसा परमप्रिय शुद्ध चैतन्यरत्न अब प्राप्त कर लिया है। चैतन्यरत्न की प्राप्ति से मेरी मति (बुद्धि) स्वच्छ हो गई है, जिससे अपने चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य मुझे अपना भासित नहीं होता। इस चैतन्यरत्न को जान लेने पर अब जगत में मेरे चैतन्य से श्रेष्ठ अन्य कोई पदार्थ नहीं कि जो मेरे लिये ज्ञेय हो, दृश्य हो या गम्य हो। जगत में चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं है, अन्य कोई वाच्य नहीं है, अन्य कोई ध्येय नहीं है, अन्य कुछ श्रवण करनेयोग्य नहीं है, अन्य कुछ प्राप्त करनेयोग्य नहीं है, अन्य कुछ श्रेय नहीं है, अन्य कुछ आदेश नहीं है।

वाह, कैसा अद्भुत है, मेरा चैतन्यरत्न!

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)